त्याग करने मात्र से वैराग्य नही आ जाता। वैरागी बनने की भावना से तू त्यागी बना यह बात सच्ची है, परन्तु वैराग्य की मस्ती जगाने का काम अब त्यागी जीवन मे शुरू करना है और वैराग्य की अगोचर दुनिया मे जाना है-इतना याद रखना।

त्यागी मुनि का वेश तूने धारण किया अर्थात् राग-महोदधि से पार उतरने का गणवेश (Uniform) धारण किया और महोदधि मे कूद पडा। त्यागी बनने मात्र से राग के सागर को तू पार कर गया-ऐसी मान्यता रखने की गम्भीर भूल न करना। तैरना अब शुरू किया है, उसे तू तब पार कर सकेगा जब राग समुद्र मे आते पदार्थों को तत्व दृष्टि से देखेगा, उनकी ओर आकर्षित नही होगा, परन्तु अधिकाधिक वैरागी बनता जायगा।

त्यागी इसी दुनिया मे जीता है जिस दुनिया मे रागी और भोगी जीता है, परन्तु इस दुनिया का रागी-भोगी बहिर्दृष्टि से देखता है, दुनिया के वर्तमान पर्याय को ही देखता है, जब कि त्यागी दुनिया के त्रैकालिक पर्याय को देखता है—पुद्गल के परिणामो पर सोचता है।

'क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्याना ऋद्धि समुदया सर्वे।

'मनुष्य की ऋद्धि, सपत्ति, वैभव-सब कुछ क्षण मे बदल जाने वाला है – विपरीत परिणाम मे परिणत होने वाला है—

जिस नगर की शोभा देखकर बाह्य दृष्टि आत्मा आनद विभोर हो जाती है, वहां अतर्दृष्टि महात्मा सोचते हैं यह भी एक दिन श्मशान होगा। मनुष्यो से उभरते हुए बाजारो मे गिद्ध, चीलो और शृगालो के समूह उभरेंगे। यह तो ससार का

क्रम है ! श्मशान मे सदन और सदन मे श्मशान ! किसी के चमन में किसी का क्रंदन-किसी के विलाप मे किसी का आलाप !'

आज का वन कल नंदनवन !

आज का नंदनवन कल वन !

आज की रूप सुन्दरी यौवना—कल रूपहीन दुर्वलिका !

आज की रूपहीन दुर्वलिका-कल रूप सुन्दरी यौवना !

तो कहिए ! तत्व दृष्टि वाले मनुष्य को इस परिवर्तनशील दुनिया पर राग होगा या वैराग्य ! तत्व दृष्टि आत्मा को संसार के पदार्थो पर मोह नही होता। तत्वदृष्टि मोहजनक नही परन्तु मोहनाशक है। तत्वदृष्टि का चितन वैराग्य प्रेरक होता है। यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज संसार के मुख्य २ मोहोत्तेजक पदार्थो पर तत्वदृष्टि का चिंतन कर देते हैं, आओ हम इस चितन मे प्रवेश करे।

वाह्यदृष्टः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी।
तत्वदृष्टेस्तु साक्षात् सा विण्मूत्रपिठरोदरी ॥४॥१४८

श्लोकार्थ

वाह्यदृष्टि को स्त्री अमृत के सार से निर्मित दीखती है, तत्वदृप्टि को वही स्त्री प्रत्यक्ष विप्टा और मूत्र की हाँडी जैसी उदरवाली दीखती है।

श्लोक विवेचन

सुन्दरी ...... !

ब्रह्मा ने अमृत के सार मे से सुन्दरी की रचना की है! 'नैपधीयचरित' के रचयिता कवि हर्ष कहते हैं: "द्रोपदी ऐसी

सुन्दरी थी कि जिसकी काया, ब्रह्मा ने चन्द्र के गर्भ भाग को लेकर, उसमे से बनाई थी ग्रत चन्द्र का मध्य भाग पोला काला दिखाई देता है। बडे २ कवियो ने स्त्रियो के सौन्दय का वर्णन करने मे ग्रपना कवित्व निचोड २ कर उसमे भरा है ग्रसार ससार मे यदि कोई सार है तो वह मारगलोचना सुन्दरी हैं।'

स्त्री' का यह दशन वाह्यदृष्टि मनुष्यो का दर्शन है। इन्ही स्त्रियो का ग्रन्तर्दृष्टि महात्मा कैसा दर्शन करते हैं।

'विष्टा ग्रौर मूत्र की हाडी।'

'नरक की मोमवत्ती '

'कपट की कोठरी।'

तत्वदृष्टा महात्मा पुरुष स्त्री के शरीर की सुकोमल श्वेत चमडी के नीचे झाँकते हैं तो वहाँ उन्हे विष्टा, मूत्र, रुधिर, माँस ग्रौर हड्डियाँ दिखाई देती है—ग्रौर उन्हे राग नही–पर वैराग्य हो जाता है।

तत्वदृष्टि महापुरुष स्त्री के साथ भोग क्रिया मे नरक के दशन करते हैं नरक की वास्तविक भयानक यातनाग्रो के दशन मात्र से मोह नाश होता है

स्त्री के हाव भाव ग्रौर प्रेम प्रलाप के ग्रन्दर कपट की लीला देखने को मिलती है, ग्रौर वही वैराग्य झिलमिला उठता है।

स्त्री को बहिर्दृष्टि मनुष्य मात्र दैहिक वासनाग्रो को सतुष्ट करने का पात्र समझ कर उसके साथ ग्रसभ्य व्यवहार करता है। जब कि 'स्त्री की ग्रात्मा भी मोक्ष माग की ग्राराधना कर सके ऐसी उत्तम है' ऐसी पवित्र दृष्टि के साथ उसकी देह के प्रति ममत्व मिटाने हेतु 'विष्टा ग्रौर मूत्र की

हँडिया जेसे पेट वाली' या नरक की मोमवत्ती, अथवा कपट की कोठरी के रूप मे तत्वदृष्टि वाला देखता है तो वह अनुचित नही। प्राय: स्त्री के शरीर के स्त्री सौन्दर्य के या स्त्री के हाव भाव के वर्णन उन्होने ही किये है जो कामी विकारी और दैहिक वासनाओ के भूखे थे। आज भी ऐसे ही वहिर्दृष्टि मनुष्य स्त्री के वाह्य रूप रंग और फैशन परस्ती के गुण गाते अघाते नही। इसमें स्त्रियों का सम्मान नही परन्तु घोर अपमान है।

स्त्री दर्शन से स्वाभाविक रूप से पैदा होती वासना वृत्ति को निर्मूल करने हेतु, स्त्री के शरीर की वीभत्सता के विषय में सोचना आवश्यक समझा गया है, परन्तु साथ ही स्त्री के शरीर में भी अनत गुणमयी आत्मा वसी हुई है। स्त्री को 'रत्न खान' भी कहा गया है, उसका आदर करना भी उतना ही आवश्यक है। स्त्री का दर्शन होने पर भी मोह वासना न जगे, ऐसा दर्शन करने के लिये कहा गया है। ऐसा दर्शन अन्तर्दृष्टि के विना असंभव है।

संसार मे 'स्त्री' तत्त्व महा मोह का निमित्त है। यह महान् वैराग्य का निमित्त भी वन सकता है, उसके लिये चाहिये अतर्दृष्टि, तत्त्वदृष्टि।

लावण्यलहरीपुण्यं वपु: पश्यति वाह्यदृग्।
तत्वदृष्टि श्वकाकानां भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम् ॥५॥१४६

श्लोकार्थ

वाह्य दृष्टि सौन्दर्य की तरग द्वारा पवित्र शरीर देखती है। तत्त्व दृष्टि वाला कौओं और कुत्तो के खाने योग्य कृमि के समूह से भरा शरीर देखता है।

श्लोक विवेचन

शरीर।

स्त्री की अपेक्षा भी अधिक प्रिय शरीर।

इस शरीर को आप कौन सी दृष्टि से देखते है।

बाह्य दृष्टि से शरीर सौन्दर्य से सुशोभित स्वच्छ निर्मल लगता है। तत्व दृष्टि को यही शरीर कौओ-कुत्तो के खाने योग्य कृमि के समूहों से भरा हुआ दिखाई देता है। एक शरीर को देखकर रागी बनता है, एक शरीर को देखकर विरक्त बनता है। एक शरीर की सुश्रुषा करता है, एक शरीर के प्रति लापरवाह बनता है। एक शरीर से अपना महत्त्व आकता है, एक शरीर से अपने को बधन मे जकडा हुआ महत्त्वहीन मानव समझता है।

शरीर के सौन्दय को, शरीर की शक्ति को, शरीर की निरोगिता को महत्व देने वाला बाह्य दृष्टि मनुष्य शरीर मे सवत्र रही हुई आत्मा के सौन्दय को देख सकता नही, आत्मा की अपार शक्ति को समझ सकता नही, आत्मा के अनत अव्या बाध आरोग्य की कल्पना तक उसे होती नही। और तो दूर, पर शरीर की चमडी के ही नीचे रहे हुए अति बीभत्स पदार्थो को भी देख सकता नही! उसकी दृष्टि तो मात्र शरीर के ऊपर की चमडी पर ही होती है। वह उस खुरदरी चमडी को सुकोमल बनाने के लिये परिश्रम करता है, वह उस काली चमडी को गोरी बनाने का प्रयत्न करता है। गदी चमडी को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है बहिरात्मदशा मे ऐसा ही होता है।

अन्तरात्मा—तत्वदृष्टि पुरुष शरीर के अदर देखता है और कांप उठता है। यह मांस और खून, मल और मूत्र यदि सब बाहर निकल आवे तो आँखों से देखा न जाये!

वह शरीर की रुग्णावस्था के विषय में सोचता है। वृद्धावस्था की कल्पना करता है और अंत में प्राणरहित शरीर के कलेवर को देखता है। उसके आस पास एकत्रित हुए कौओ और कुत्तों को वह देखता है—'वे शरीर को नोच रहे हैं.......' वह आंखें बन्द कर देता है..... 'जिस शरीर को वर्षो तक अच्छा २ खिलाया, रोज नहलाया, भक्ष्याभक्ष्य भूलकर पुष्ट किया—वह शरीर अन्त मे कौओ की चोचो से नोचा जाने का? कुत्तो की तीक्ष्ण दाढो में चबाया जाने का?

वह उस शरीर को लकडो के ढेर पर अशरण—लाचार स्थिति मे पडा हुआ देखता है—क्षणभर में वह सुलगता है... और लकडो के साथ उसकी भी राख हो जाती है! मात्र घंटे दो घंटों में वर्षो का सृजन राख हो जाता है और तेज वायु उस राख को इधर उधर उडा डालती है।

शरीर की इन अवस्थाओं का वास्तविक-सत्य कल्पना चित्र तत्त्व दृष्टि ही खींच सकता है। शरीर पर का ममत्व टूटता जाता है। उसका मन अविनाशी आत्मा के साथ चिपकता जाता है। आत्मा के लिये वह शरीर के सुख की परवाह नहीं करता। शरीर को सुखा डालता है-शरीर के सौन्दर्य को देखता ही नहीं ... हाँ, शरीर के सौन्दर्य के बलिदान से यदि आत्मा का सौन्दर्य प्रकट होता हो तो वह शरीर के सौन्दर्य का पल में त्याग कर देता है। शरीर को वह पाप करके टिकाना या बढ़ाना नही चाहता। निष्पाप होकर वह शरीर को टिकाता है .... वह भी आत्मा के हित के लिये! तत्त्वदृष्टा का यह शरीर दर्शन है।

गजाश्वैर्भूपभवन विस्मयाय वहिर्दृश·।
तत्राश्वेभवनात् कोपि भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥६॥१५०

श्लोकार्थ

बाह्य दृष्टि के लिए हाथी और घोडों से युक्त राजमहल विस्मयकारी होता है। तत्व दृष्टि के लिये तो राजमहल मे घोडे और हाथी के वन से कुछ भी विशेष नही।

श्लोक विवेचन

ऐश्वर्य,

राजमहल का वैभव

आज के राष्ट्रपति भवन का वैभव-गवनरो और प्रधान मन्त्री मुख्य मन्त्रियो के बँगलो का वैभव-- उनका ऐश्वर्य देखकर आपकी आँखे विस्मित हो जाती हैं ? तिरंगे झंडे लहराते हुए उनके राजसी बँगले-महाराजाओ के चादी-सोने मे मढे हुए रथो से भी अधिक कीमती विदेशी कारो-मोटर साइकलो और स्कूटरो को देखकर आप दिग्मूढ हो गए हैं ? तो अभी आप बाह्य दृष्टि मे विश्व का दर्शन कर रहे हैं, अभी अतर्दृष्टि खुली नही- अभी तत्त्वाजन हुआ नही। 'मेरे पास भी इतनी सपत्ति कब इकट्ठी हो और मैं भी ऐसा ऐश्वर्यवान् बनूँ महल-बँगले खडे करूँ ! हाथी घोडे (आजकल की मोटरें-स्कूटर-मोटर साइकिलें) वसा दूँ 'यदि ऐसे अरमान होते हो तो अतर्दृष्टि खुली नहीं ! फिर भले ही आप धर्माराधना करते हो। यदि आप मुनि हैं तो राजाओ के वैभव देखकर आप क्या सोचते हैं ? परलोक मे ऐसा ऐश्वर्य मिले ऐसे अरमान तो नही होते न ? ऐसे ऐश्वर्य सपन्न राजा-महाराजाओ-प्रधान मत्री या गवनरो, मिल मालिकों या उद्योगपतियो से प्रभावित तो नही होते न ! यदि अातर्दृष्टि-तत्त्वदृष्टि होगी तो इनसे प्रभावित नहीं होओगे। उनके समान ऐश्वर्यशाली बनने के अरमान नही

जाएंगे–बल्कि इन सब की अनित्यता–असारता और धोखेबाजी का विचार पैदा होगा।

'इन्द्रजालोपमाः स्वजन धन संगमा'

स्वजन-धन-वैभव-सबका संयोग इन्द्रजाल सदृश है।

'तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः'

उनमें मूढ-विवेकहीन मनुष्य ही मुग्ध होते हैं-रागी होते हैं। अन्तर्दृष्टि महात्मा इन ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों को, धरती को कम्पित करने वालों को-आतम असहाय स्थिति में देखते हैं।

तुरगरथेभनरावृतिकलितम् दधतं बलमस्खलितम्।
हरति यमो नरपतिमपि दीनम् मैनिक इव लघुमीनम्॥
विनय विधीयता रे श्री जिनधर्मः शरणम् ... .

जिनके पास हिनहिनाता हुआ अश्वदल था-मदोन्मत्त हाथियों की सेना थी और अपूर्व बल का अभिमान था-ऐसे राजाओं को भी यमराज उठा ले जाता है -कैसे ? जैसे मछुआ मछली को पकड़ ले जाता है। उस समय उस राजा की कैसी दीन दशा !

तत्वदृष्टि उत्तम पुरुष को क्षणिक भययुक्त और पराधीन पुद्गल के ऐश्वर्य विस्मित नही कर सकते–उनके लिये ऐसे ऐश्वर्य का कोई विशेष मूल्यांकन होता ही नही........ उनके लिये तो मूल्य होता है चिदानंदमय आत्म-स्वरूप का ! आत्मा के अनंत-अगोचर-अविनाशी-अभय–स्वाधीन ऐश्वर्य की प्राप्ति-हेतु वे दिन रात लालायित रहते हैं। अपनी लालसा की पूर्ति हेतु वे अविरत संघर्ष करते रहते है।

बहिर्दृष्टि जिस ऐश्वर्य को सिर पर चढ़ाने में गौरव समझते हैं वहाँ अंतर्दृष्टि उसे पावों के नीचे-रोंदने में गौरव का अनुभव करते हैं।

भस्मना केशलोचेन वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्त बाह्यदृग् वेत्ति चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ॥७॥१५१

श्लोकार्थ

राख मलने से, केश का लोच करने से अथवा शरीर पर मैल चढाने से बाह्यदृष्टि महात्मा के रूप मे जानता है। तत्त्वदृष्टि ज्ञान की प्रभुता से महान् जानता है।

श्लोक विवेचन

महात्मा

कौन ? शरीर पर राख मली हो। सिर पर जटा बढाई हो, शरीर पर मात्र लगोटी हो-उसे बाह्य दृष्टि मनुष्य महात्मा मानता है ?

और कौन ! मस्तक पर मुण्डन नही पर लोच करवाया हो, सफेद वस्त्र धारण किए हो, रजोहरण और दण्ड रखे हो-उसे बाह्य दृष्टि मनुष्य 'महात्मा' कहता है।

और ? शरीर की कोई परवाह नही मैल की पपडिया उतर रही हो-कपडो को धोने की बात नही, मैले-और काले पडे हुए कपडे जिसने पहने हो-उसे बाह्य दृष्टि 'महात्मा' गिनता है।

तत्त्वदृष्टि मनुष्य 'महात्मा' को किस माध्यम से पहिचानता है ?

ज्ञान की प्रभुता के माध्यम से।

ज्ञान साम्राज्य का मालिक हो वह महात्मा।

ज्ञान की प्रभुता का प्रभु-महात्मा।

तत्त्वदृष्टि वाला यह बात देखता है-"ज्ञान की प्रभुता है ? ज्ञान साम्राज्य का विस्तार कितना है ?" ज्ञान के बिना

महानता नही हो सकती । ज्ञान के विना वास्तविक महात्मापन प्राप्त नही होता । ज्ञान की प्रभुता वाले महान् पुरुषो को तत्वदृष्टि वाले जीव ही पहिचान सकते है । सभव है कि ज्ञान की प्रभुता वाले महात्मा शरीर पर भस्म न लगाएँ, शरीर और वस्त्र मैले न रखे - केश का लोच न भी करे, वाह्य दृष्टि आत्मा वहां महात्मापन न माने ! और जहाँ ज्ञान न हो परन्तु शरीर पर भस्म होगी, शरीर पर मैल होगा, केश का लोच होगा वहाँ वाह्यदृष्टि मनुष्य झुक पडेगा । उसे वहाँ से ज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा । परन्तु वाह्य दृष्टि मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने हेतु महात्माओं को ढूढता ही नही ! वह महात्माओं के पास जाता है तो वाह्य दृष्टि में दिखाई देते सुख के साधन उपलव्ध करने हेतु ! पैसा कैसे कमाना ? सोना कैसे जुटाना ? पुत्र की प्राप्ति कैसे हो ?

ऐसी २ पौद्गलिक वासनाओं का पोपरण करने हेतु वह महात्माओ के पास जाता है । वह कल्पना करता है कि 'मैले-कुचैले और शरीर पर राख मलने वाले वावो-जोगियों के पास सिद्धियाँ होती है, वे गरीव को श्रीमंत और पुत्रहीन को पुत्रवान वना सकते है ।

मोक्ष मार्ग में उपयोगी, कर्म के वन्धन तोड़ने में उपयोगी ज्ञान की वाह्यदृष्टि वाले को आवश्यकता ही नही । पर जिनके पास ऐसा ज्ञान होता है वे ही महात्मा इस विश्व पर महान् उपकार करने वाले होते है । तत्वदृष्टि वाला जीव ऐसे ज्ञानी पुरुषों को ही महात्मा समझता है, उन्ही की सेवा-भक्ति और उपासना करता है ।

'महात्मा' वनने की अभिलाषा वाले जीव को भी ज्ञान-वनना चाहिये । ज्ञान दृष्टि के विना महान् वनना

असभव है।' तत्त्व को जानने वाला इस बात को समझे और तत्वज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करे। बाह्य वेश मात्र से—बाह्य दिखावे मात्र का महात्मा बनना वह न चाहे। वास्तविक निष्पाप और ज्ञानपूर्ण जीवन मे ही वह महानता का अनुभव करे और उस मार्ग पर आगे बढे।

न विकाराय विश्वस्योपकारायैव निर्मिता
स्फुरत्कारुण्यपीयूषवृष्टयस्तत्त्वदृष्टय ॥८॥१५२

श्लोकार्थ

स्फुरायमान करुणारूप अमृत की वृष्टि करने वाले तत्व दृष्टि पुरुष विकार के लिये नही, परन्तु विश्व के उपकार हेतु ही उत्पन्न हुए हैं।

श्लोक विवेचन

तत्त्वदृष्टि महापुरुष !

अर्थात् करुणामृतकी वृष्टि करने वाले !

निरन्तर विश्व पर उपकार करने वाले !

राग द्वेष के विकारो का नाश करने वाले !

ग्रहण और आसेवन शिक्षा द्वारा, स्व-पर आगम ग्रन्थो के सूक्ष्म रहस्यो की प्राप्ति द्वारा तत्वदृष्टि महापुरुष पैदा होते हैं। जिन शासन के आचार्य और उपाध्याय ऐसे तत्वदृष्टि महापुरुष तैयार करने मे ही दिन रात रत रहते हैं।

ये तत्वदृष्टि महापुरुष विश्व मे राग-द्वेष के विकारो का विकास नही करते परन्तु विनाश करते हैं।

भव समुद्र मे विषय कषाय के पराधीन बनकर डूबते हुए जीवों को देखकर तत्वदृष्टि महापुरुषो के हृदय करुणा के

अमृत से उभर उठते हैं, वे डूबते हुए जीवों को संयम की नाव में बिठाकर, उन्हें भव सागर से पार उतारते है।

भीषण भव वन में भटकते, मार्गच्युत जीवों को देख कर तत्वदृष्टि महात्माओ के अन्तः करण मे करुणा का स्फुरण होता है, जीवो को वे अभयदान देते है—सही मार्ग देखने की दृष्टि देते है—मार्ग में साथ देते है—शरण देते है और 'मोक्ष' की श्रद्धा देते हैं।

अनेक जीवों के संशयों का निराकरण कर निःशक बनाकर मोक्ष मार्ग की आराधना में प्रोत्साहित करते है। समुद्र के समान वे गंभीर होते है, तथा मेरूवत् निश्चल होते है। उपसर्गो, परिषहों से वे डरते नही, न दीनता दिखाते है। दिन-रात मोक्ष मार्ग की आराधना-प्रभावना करने में वे प्रसन्न चित्त रहते है। ऐसे तत्व दृष्टि महात्मा ही वस्तुतः विश्व के महान् उपकार-कर्ता है........महान् हितकर्ता है........कल्याण कर्ता है। उनके सिवाय दुनिया में कोई दुःखी जीवो का आश्वासन नहीं, आश्रय नही, सहारा नहीं। उनके सिवाय कोई शरण नही।

करुणायुक्त हृदय में तत्व दृष्टि से किए हुए विश्वदर्शन में से यह दिव्य विचार प्रकट होता है, ओह! ऐसा धर्म प्रकाश पृथ्वी पर छाया हुआ होने पर भी ये जीव आँखो पर अज्ञानता की पट्टी बांधकर ससार की चौरासी लाख जीव योनियों में भटक रहे है। आत्म तत्व को भूलकर जड़ तत्वों मे से सुख प्राप्ति का मिथ्या प्रयत्न कर रहे हैं—दुःख, पीड़ा और विडंबनाओ से घिर गए है......! कैसी दयापात्र दीनता बताते है........! कैसा करुण आक्रन्द करते है—! लाओ! इन बिचारे जीवों को धर्म का मार्ग बताएं, धर्म का रहस्य समझाएँ जिससे

दु खो तथा मानसिक पीडाओ से उनकी मुक्ति हो—इस भीपण भव समुद्र मे पार उतर जाएँ।'

ससार के अज्ञानी जीव उन्हे चाहे उपकारी माने या न मानें वे तो निरन्तर उपकार करते ही रहते हैं। सूर्य को प्रकाश देने वाला उपकारी कोई माने या न माने, सूर्य तो प्रकाश देता ही रहता है। उसका यह स्वभाव है। उसी प्रकार तत्व दृष्टि महात्माओ का यह स्वभाव होता है कि वे जीवो पर करुणा लाकर उपकार करते ही रहते हैं।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२०. सर्व समृद्धि

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु मुद्रितेषु महात्मनः ।
अन्तरेवावभासन्ते स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ।।१।।१५३

श्लोकार्थ

बाह्य दृष्टि की प्रवृत्ति बद होती है तब महात्मा को अतर में ही प्रकटित सर्व समृद्धियाँ दिखाई देती है ।

श्लोक विवेचन

समृद्धि !

अपार—अनंत समृद्धि !

तुम्हारे बाहर ढूँढने की क्या आवश्यकता है ? बाहर फाँके मारने की क्या जरूरत है ? देखो, एक काम करो :

अपनी बाह्य दृष्टि बन्द करो ।

की ? अब अन्तर्दृष्टि खोलकर अन्तरात्मा में देखो । खूब एकाग्र बनकर देखो ।

क्या ? अधकार है ? कुछ नही दिखाई देता ? धैर्य रक्खो । अपनी अन्तर्दृष्टि को बन्द न करो, उसके प्रकाश को और अधिक तेजस्वी बनाकर देखो·······बाह्य दृष्टि के बाहर के प्रकाश में से चकाचौंध होकर आए हो न, अतः थोड़ी देर अंधकारपूर्ण लगेगा—फिर धीरे-धीरे वहां का महान् मूल्यवान् भंडार दिखाई देने लगेगा ।

दीखा ? नही ?

तो तुम्हारी सारी इन्द्रियो की शक्ति को केन्द्रित कर उस समग्र शक्ति को अन्तरात्मा मे उस समृद्धि के भडार को देखने के काम मे लगा दो।

हाँ, विश्वास रखो, वहाँ दुनिया का श्रेष्ठ भडार छिपा पडा है—तुम विल्कुल ही उस भडार के पास खडे हो—धैर्य रखकर, उस भडार को देख लो ।

उस भडार मे क्या है ? अरे, यह जानने के लिये इतने जल्द वाज क्यो हो रहे हो ? तुम्हे स्वय ही इस भडार मे पडी हुई समृद्धि को देखना न। मै कहता हूँ कि इस भडार की समृद्धि से देव देवेन्द्रो के साम्राज्य खरीदे जा सकते हैं। देवलोक और मृत्यु लोक का सारा सुख वैभव खरीदा जा सकता है। इस समृद्धि की एक खास विशेषता बताऊँ ? यह मिलने के वाद तुम्हारे पास से कभी मिटने वाली नही।

अभी भी यह समृद्धि दिखाई न दी ? वाह्य दृष्टि को विल्कुल वन्द की है न ? इस पर 'सील' लगा दो। हाँ, यह जरा भी खुली रही तो भडार नजर नही आएगा। वाह्य दृष्टि के पाप से तो अनेक जीव इस भडार के अति निकट आकर भी निराश होकर लौट जाते हैं—अत इस दृष्टि को तो फोड ही डालना।

हाँ, अब यह भडार दिखाई दिया ? मन्द-मन्द दिखाई दिया ? कोई बात नही अब अपने हाथ लम्बे करो और इस ओर आगे वढो—प्रकाश वढता जाएगा—वढो न ? अब तो यह भडार स्पष्ट दिखाई दिया न ? खोलो इस भडार को। क्या समृद्धि है इसमे ?

कहो, अब तुम्हारे देश-विदेश में भटकने की आवश्यकता है ? सेठ-श्रीमतों की गुलामी करने की आवश्यकता है ? धंधों की दौड़ धूप करने की आवश्यकता है ? कुटुम्ब-परिवार के पास जाने का मन हो ऐसा है ? इन सब की स्मृति भी आती है क्या ? सब कुछ दिव्य और भव्य है न ? परन्तु हाँ, जिस क्षण और जिस समय बाह्य दृष्टि खुली, कि यह सब जादू की भाँति लुप्त हो जाएगा और पूर्ववत् गाँव-नगर की गलियों में भटकते हुए भिखारी बन जाओगे !

समाधिर्नन्दनं धैर्यं दम्भोलिः समता शचि ।
ज्ञानं महाविमानं च वासवश्रीरियं मुनेः ॥२॥१५४

श्लोकार्थ

समाधिरूप नन्दनवन, धैर्य रूप वज्र, समता रूप इन्द्रानी और स्वरूप का अवबोध रूप बड़ा विमान-यह इन्द्र की लक्ष्मी मुनि के पास है।

श्लोक विवेचन

मुनिराज ! आप इन्द्र है—

आपकी समृद्धि की, आपकी शोभा की सीमा नही। आपके किसी बात की कमी नही। देवराज इन्द्र की समृद्धि आपके पास है। आओ, आपकी समृद्धि के दर्शन करो।

यह रहा आपका नदन वन....! हाँ यह नदनवन है—कैसा सुरम्य, एक दम हरा और आल्हादक है ! 'ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकतारूप समाधि के नंदनवन में आप नित्य विश्राम करें। नंदनवन में प्रविष्ट होने के पश्चात् आपको दूसरा कुछ भी याद नही आएगा। नित्य नवीन-नूतन लगता हुआ यह नंदनवन आपका है—अच्छा लगा न ?

आपको शत्रुओ का भय है ? निर्भय रहे आपके पास बडे-बडे पहाडो को चूर डाले ऐसा वज्र है। आपको भय किस बात का ? इन्द्र वज्र को पास ही रखता है उसी तरह हे मुनीन्द्र ! आप भी यह धैर्य रूप वज्र साथ ही रखकर भ्रमण करें। परिषहो के पहाड आपके मार्ग मे आएँ तो धैर्य के वज्र से उसे छेदकर आगे बढ जाना। क्षुधा, पिपासा, शीत या ऊष्ण, डास या मच्छर, स्त्री या सत्कार किसी भी परिषह से आप दीनता या उन्माद न करें। धैर्य रूपी वज्र से उसको पराजित कर, विजयी बनकर रहे।

आपको अकेलापन सताता है क्या ? कोई आपके मन को चहकाने वाला, मन को स्नेह की मस्ती से भर देने वाला, प्रेम दृष्टि के सागर मे क्रीडा करने मे साथी चाहिये क्या ? यह रही आपकी इन्द्रानी ! समता-शची आपकी स्थायी साथी है। बस, इस समता शची के हाथ का अमृत पी पी कर-उसके यौवन का पान करते रहना। आपको जरा भी अकेलापन नही लगेगा। आपका मन स्नेह की मस्ती मे रहेगा। समता-इन्द्रानी-मध्यस्थदृष्टि है ! इस इन्द्रानी को आप पल भर भी दूर न रखें।

रहेंगे कहाँ ? अरे, मुनीन्द्र ! आपके महान् विमान मे ही रहने का। ईंट चूने और पत्थर के मकान इस महाविमान के आगे तुच्छ है। घास या केलुओ की झोपडियाँ अब आपके लिये नही। अपने परिवार के साथ अपने विमान मे ही निवास करने का। ज्ञान के महाविमान के आप मालिक हैं। ज्ञान-आत्म-स्वरूप का अवबोध रूप ज्ञान-महाविमान है। आपका नदनवन भी इसी विमान मे आया हुआ है। इस स्थान में आपको कोई कठिनाई तो नही होगी न ? सब प्रकार की सुविधायुक्त

यह विमान है। आपकी इन्द्रानी और आपका वज्र भी इसी विमान में रहेगा।

कहिए, अब कोई न्यूनता है ? मुनीन्द्र ! आपके पास दुनिया की श्रेष्ठ संपत्ति, उच्चतम वैभव है। आपके किसी बात की कमी नही—ऐसे दिव्य सुख में आपके रात और दिन कहाँ बीतते है—इसका आपको पता भी नही चलेगा। अतः अपनी समृद्धि को पहिचानो। इसके सिवाय तुच्छ और सारहीन पौद्गलिक सपत्ति की कामनाओं का त्याग कर दो।

विस्तारितक्रियाज्ञान चर्मच्छत्रो निवारयन् ।
मोहम्लेच्छमहावृष्टि चक्रवर्ती न किं मुनिः ॥३॥१५५

श्लोकार्थ

क्रिया और ज्ञान रूपी चर्म रत्न और छत्र रत्न जिन्होंने विस्तृत कर रखा है ऐसे मोहरूपी मलेच्छों द्वारा की हुई महा-वृष्टि का निवारण करते हुए साधु क्या चक्रवर्ती नही ?

श्लोक विवेचन

मुनिराज ! क्या आप चक्रवर्ती नही ? आप तो भाव चक्रवर्ती है। चक्रवर्ती की अपार ऋद्धि-समृद्धि और शक्ति आपके पास है, इसका आपको पता है क्या ?

आपके पास चर्म रत्न है।

सम्यग् क्रियाओ का चर्म रत्न है।

आपके पास छत्र रत्न है !

सम्यग् ज्ञान का छत्र रत्न है....!

भले ही फिर मोह-म्लेच्छ मिथ्यात्व के दैत्यो को भेजकर आप पर कुवामनाओ के तीर बरसाएँ। छत्र रत्न और चम रत्न आपको एक भी तीर लगने नही देंगे।

'मैं चक्रवर्ती हूँ!' यह खुमारी रखो। 'मेरे पास चर्म रत्न और छात्ररत्न हैं' इसका गर्व रखो। इस खुमारी और गर्व से आप दीन न बनें, निराश न हो, कायर न बनें।

मोहम्लेच्छ चाहे जितने व्यूहो की रचना करें। आपके आसपास चारो ओर मिथ्यात्व के भयावह दैत्यो को व्यवस्थित खडे कर दें। आपको डराने के लिये विविध वासनाओ के तीर बरसाएँ, आप निर्भीक होकर टूट पडने के लिये तैयार रहे। सम्यग क्रियाओ मे आपकी लीनता होगी, वासनाओ के तीर आपका स्पश नही कर सकेंगे। सम्यग ज्ञान मे आपकी मग्नता होगी, वासनाओ के तीर आपके प्रदक्षिणा लगाकर उन्ही दैत्यो के वक्षस्थल मे प्रहार करेंगे। स्थूलभद्रजी पर मोह-म्लेच्छ ने कैसा गजब का हमला किया था? कैसी वासना की मूसलाधार वर्षा की थी? परन्तु वे तो चक्रवर्ती महामुनि थे। मोह ने कोश्या के हृदय मे मिथ्यात्व को खडा किया—मिथ्यात्व ने वासनाओ को स्थूलभद्रजी पर छोडी—नित्य कोश्या सोलह शृंगार सजकर वासनाओ के तीर पर तीर छोडती चली-वासनाओ की मूसलधार वर्षा करने लगी, उसने ललचाने वाले हाव भाव किये, अगविन्यास किये, मदोत्तेजक भोजन अर्पित किये। गीत-गान और नृत्य किये—परन्तु ये एक भी तीर स्थूलभद्रजी को छू नही सके। वर्षा का एक बिंदु भी उनके अग को भिगो सका क्या? क्योकि उन चक्रवर्ती के पास सत्क्रियाओ का चम रत्न था। सम्यग् ज्ञान का छत्ररत्न था। ये दो रत्न

चक्रवर्ती की शत्रुओं से सतत रक्षा करते हैं। इसमें एक ही है इन रत्नों को चक्रवर्ती दो अपने पास ही रखने पड़ते हैं। यदि इन रत्नों को दूर त्याग दिये, तो शत्रु तुरन्त आक्रमण करके चक्रवर्ती को मसल डालें।

मुनिराज ! आपको भी समस्त शत्रुओं का त्याग कर सर्व संवर में आना है; अर्थात् क्रिया और ज्ञान से आपको परिणति को सँवारना है। मन-वचन-काया के योग की क्रियाओं में —चारित्र की क्रियाओं में पिरोना और ज्ञान का अखंड उपयोग रखना। ज्ञान दीपक किसी भी समय बुझ न जाए, इसके लिये आपको जागृत रहना होगा। क्षायोपशमिक ज्ञान-शास्त्र ज्ञान का मन्द दीपक भी यदि बुझ गया तो वासनाओं के भूतों का समूह आपको अपना शिकार बना लेगा और आपका खून चूस लेगा। वासनाओं की मूसलाधार वर्षा में आप भीग जाएँगे और रोग ग्रस्त होकर आप मृत्यु के मुँह में चले जाएँगे।

आप सतत याद रखें कि आप चक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती की अदा से आप निर्भयजीवन जीएँ और चर्म रत्न तथा छत्र रत्न को प्राण की भाँति साथ ही रखें। मोह म्लेच्छ पर आप विजयी होंगे।

नवब्रह्मसुधाकुण्डनिष्ठाधिष्ठायको मुनिः।
नागलोकेशवद् भाति क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥४॥१५६

श्लोकार्थ

नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रूपी अमृत के कुंड की स्थिति के सामर्थ्य से स्वामी और यत्न से सहिष्णुता रखते हुए मुनि नागलोक के स्वामी की भाँति शोभायमान होते हैं।

श्लोक विवेचन

मुनीश्वर आप शेषनाग हैं। नाग लोक के स्वामी है।

चकित न हो। मात्र कल्पना न समझें। सचमुच आप नागेन्द्र है ब्रह्मचर्य के अमृत कुड मे आपका निवास है। क्षमा-पृथ्वी को आप धारण किए हुए है। क्षमा पृथ्वी आपके सहारे टिकी हुई है। कहिये ! अब आप नागेन्द्र सचमुच है या नही ? हम आपकी खुशामद नही करते, आपकी अर्थहीन प्रशसा करके आपको रिझाने का प्रयत्न नही करते, परन्तु जो यथार्थ स्थिति है, सत्य हकीकत है, उसे बताते हैं।

देखिये ! आप ब्रह्मचर्य की नौ वाडो का पालन कर मन-वचन-काया से ब्रह्मचय के अमृत कुड मे क्रीडा नही करते ?

(१) आप स्त्री-पशु-नपु सक जहाँ रहते हो—ऐसे स्थान मे रहते नही।

(२) स्त्री कथा करते नही।

(२) स्त्रियाँ जिस स्थान पर बैठी हो उस स्थान पर आप बैठते भी नहीं।

(४) दीवार की दूसरी ओर बोलते हुए स्त्री पुरुषों के राग पूर्ण वचनो को भी सुनते नही, ऐसे स्थान का त्याग कर देते हैं।

(५) ससारावस्था मे की हुई काम-क्रीडाओ की स्मृति करते नही।

(६) विकारवधक-उत्तेजक विगईओ—घी, दूध आदि का सेवन करते नही।

(७) अति आहार-ठूँस-ठूँस कर आप भोजन करते नही।

(८) शरीर-शृंगार करते नही।

(९) स्त्रियो के अंगोपांग एकटक से देखते नही।

इस ब्रह्मचर्य के अमृत कुंड मे आप कैसा अपूर्व आह्लाद अनुभव कर रहे है? इस आह्लाद का वर्णन कैसे शब्दों में किया जाय? और यह वर्णन करने की वस्तु भी तो नही। यह तो गोता लगाकर अनुभव करने की वस्तु है। आप वास्तव में ब्रह्मचर्य के अमृत कुंड के अधिनायक है, स्वामी है। इसके आनद के आगे विषय सुख के कीडों का आनन्द तुच्छ असार और गंदा लगता है।

क्षमा अर्थात् पृथ्वी।

'शेपनाग पृथ्वी को धारण किये हुए हैं ऐसी लोकोक्ति है न? भले ही यह लोकोक्ति सही न हो। परन्तु मुनीश्वर! आपने तो वास्तव मे पृथ्वी-क्षमा धारण कर रखी है न? क्षमा आपके सहारे रही है।

कैसी आपकी क्षमा-सहनशीलता? गुरु चडरुद्राचार्य अपने नवदीक्षित मुनि के लोच वाले सिर पर डडे बरसाते है, परन्तु नवदीक्षित मुनि तो शेपनाग थे। उन्होने क्षमा धारण कर रखी थी। डडो के प्रहारो से उन्होने क्षमा पृथ्वी को हिलने भी न दी! उन्होंने सहनशीलता को टिकाए रक्खा। शेपनाग यदि इस प्रकार डडो के प्रहार से डर जाए तो पृथ्वी को कैसे धारण कर सके? नवदीक्षित मुनिराज—शेपनाग ने केवल ज्ञान प्राप्त किया!

ब्रह्मचर्य और सहनशीलता!

'मैं शेषनाग हूँ, नागेन्द्र हूँ' इस बात की सगर्व स्मृति से ब्रह्मचर्य मे दृढता और सहनशीलता मे परिपक्वता आती है।

मुनिरध्यात्मकैलाशे विवेकवृषभस्थित ।
शोभते विरतिज्ञप्तिगङ्ग-गौरीयुत शिव ॥५॥१५७

मुनि अध्यात्म रूपी कैलाश पर, विवेक (सद्-असद् का निर्णय रूप) रूपी वृषभ पर बैठे हुए, चारित्र्य कला और ज्ञान कला रूपी गगा और पार्वती सहित महादेव की भांति शोभायमान होते है।

श्लोक विवेचन

महादेव शकर !

मुनिवर आप ही शकर हैं—महादेव हैं—यह आपको पता है क्या ? हाँ, यह विनोद की बात नही सत्यता है। शकर की शोभा, शकर का प्रभाव सब आपके पास है—आप सर्व समृद्धि के स्वामी हैं।

हाँ, आपका निवास भी कैलाश पर है।

अध्यात्म कैलाश पर आप रहे है न ! पत्थरो का पहाड, यह अध्यात्म का पहाड अनेक विशेषताओ से भरा हुआ है कैलाश पर्वत की अपेक्षा अध्यात्म पवत दिव्य है, भव्य है।

वृषभ-बैल की सवारी ? है न आपके पास ! विवेक वृषभ पर आप आरुढ हैं। आप सत् असत् का भेद जानते है। हेय-उपादेय को पहिचानते हैं। शुभ-अशुभ के अन्तर का आपको भान है—यह आपका विवेक वृषभ है ?

गगा पावती कहाँ हैं ? ऐसा पूछते हो ? आपके दोनो ओर गगा पावती बैठे हुए हैं देखो तो सही, कैसा मनोहर इनका रूप है—और आपके प्रेम के लिये तरस रही हैं।

चारित्र्य कला आपकी गंगा है और ज्ञान कला पार्वती देवी है। हाँ, उस गंगा-पार्वती की अपेक्षा यह गगा-पार्वती आपको अपूर्व, अद्भुत सुख देती है। ये दो देवियाँ निरतर आपके साथ ही रहती है और आपको तनिक भी दुःख नही होने देती। आपसे अलग उन्होने अपना अस्तित्व ही रखा नही। आपके अस्तित्व मे उन्होने अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व विलीन कर दिया है। ऐसा दिव्य प्रेम धारण करती ज्ञान कला और चारित्र्य कला जैसी आपको देवियां मिली है, अब जगत की आपको क्या परवाह ?

कहिये मुनिवर ! समृद्धि में कोई न्यूनता है ? निवास के लिये कैलाश है। सवारी के लिये मनोनुकूल वृषभ है और गगा-पार्वती आपकी प्रियाएँ है। अब आपको क्या चाहिये ? आप अपनी डुगडुगी बजाते चलो और दुनिया को भी धुनवाते चलो।

तात्पर्य यह है : मुनि अध्यात्म में ही रहे। वे 'अध्यात्म' को ही अपना निवास स्थान माने। जब-जब बाहर जाना हो, विवेक पर ही सवारी करके जाएँ। विवेक के बिना बाहर जाएँ नही, देखे नही। ज्ञान और चारित्र्य के साथ ही जीएँ। जीवन का आनद ज्ञान और चारित्र्य के सहवास मे से ही प्राप्त करे। ज्ञान और चारित्र्य को छोड़कर अन्य किसी वस्तु में से आनद या सुख खोजने के लिये कही जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान-चारित्र्य के प्रति पूर्ण वफादारी निभाएँ। यदि आप इतनी बाते निभा सके तो आपकी समृद्धि में कभी-कभी न्यूनता नहीं आएगी। यह समृद्धि आपको सुखी करेगी, आपको शांति देगी। दुनिया मे आपकी कीर्ति फैलेगी।

शकरजी ! आप अपने वैराग्य की डुगडुगी बजाते हुए रागी-द्वेषी दुनिया को घुनाते रहे ।

ज्ञानदशनच द्राकनेनस्यनरकच्छिद ।
सुखसागरमग्नस्य कि न्यून योगिनो हरे ॥६॥१५८

श्लोकार्थ

ज्ञान-दर्शन रूपी चन्द्र और सूर्य जिनके नेत्र है ऐसे, नरक गति का नाश करने वाले (नरकासुर का नाश करने वाले) सुख रूपी समुद्र मे मग्न बने हुए योगी के कृष्ण की अपेक्षा क्या न्यूनता है ?

श्लोक विवेचन

श्री कृष्ण !

च द्र-सूय उनकी दो आखे ।

नरकासुर का जिन्होंने वध किया ।

सागर मे जो मग्न बने हुए होते हैं !

योगी, आपके श्री कृष्ण की अपेक्षा क्या कमी है ? क्या आपकी दो आख च द्र-सूर्य नही ? क्या आपने नरकासुर का वध नही किया ? क्या सुख सागर मे आप सोए हुए नही ? फिर आप अपने अ दर न्यूनता का अनुभव क्यो करते हैं ? आप स्वय श्री कृष्ण है ?

ज्ञान और दर्शन ये दो आख है आपके ये चन्द्र सूर्य समान तेजस्वी और विश्व प्रकाशक आंख हैं ।

आपने क्या नरकगति का नाश नही किया ? नरकासुर अर्थात् नरकगति । चारित्र्य के शस्त्र से आपने नरकासुर-नरक-गति का नाश किया है ।

आत्म सुख के समुद्र मे आप सोए हैं''''अब कहिये श्रीकृष्ण की विशेषताओ की अपेक्षा आपके क्या कम विशेषता है ?

वस्तु को सामान्य रूप मे देखना दर्शन कहलाता है और वस्तु को विशेप स्वरूप में देखना ज्ञान,कहलाता है। मुनि विश्व के जड-चेतन पदार्थों को सामान्य और विशेप रूप मे देखते रहते हैं। वस्तु मे तो सामान्य और विशेप, दोनों स्वरूप रहे हुए है ! जब सामान्य स्वरूप को देखा जाता है तब दर्शन कहलाता है और विशेप स्वरूप को देखा जाए तब ज्ञान कहलाता है ।

योगी महाव्रतों से युक्त पवित्र जीवन जीते हैं, उससे उन्हें मृत्यु के पश्चात् नरक में जाना नही पड़ता, इसीलिये उन्हे नरकासुर का वध किया ऐसा कहा जाता है। नरक का भय एक बड़ा असुर है ! पवित्र पाप रहित जीवन जीने से यह भय दूर होता है ।

आध्यात्मिक सुख के महोदधि मे योगी मस्त होकर सोते हैं। भले ही अरब सागर कभी सूख जाए''''जल का स्थल हो जाय, भले ही महासागर सूख जाएँ—यह अध्यात्म महोदधि कभी भी नही सूखता।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज मुनि को नित्य, अभय और स्वाधीन समृद्धि का सुख बताने के लिये आत्म भूमि पर ले जाकर, एक के बाद एक समृद्धि के दर्शन करवाते चलते है—संसार मे श्रेष्ठ गिनी जाती समृद्धि के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का दर्शन करवा कर कहते हैं : 'आपके पास ऐसी सपत्ति है—आप दुनिया के श्रेष्ठ सपत्ति-वैभव वान् पुरुष हैं। आप दीनता न करे। भौतिक संपत्ति में आकर्षित न हों। आप देवेन्द्र हैं,

चक्रवर्ती हैं, महादेव शकर हैं, श्री कृष्ण हैं—अपने आप को पहिचानो। (Know thyself) आपको स्वय का परिचय होगा, आप इस विश्व के श्रेष्ठ सुखी मानव बनेंगे।

योगी बनना पडे तो हरि से भी कोई न्यूनता न लगे। जहाँ तक योगी नही बनते तब तक नगर की गलियो मे भटकते भिखारी से भी न्यूनता लगेगी। ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की योग—आराधना करने की आवश्यकता है।

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या बाह्यापेक्षावलम्बिनी।
मुने परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टि ततोऽधिका ॥७॥१५६

श्लोकार्थ

ब्रह्मा की जो सृष्टि है वह बाह्य जगत रूप है और बाह्य-कारण की अपेक्षा रखने वाली है। मुनि की अतरग गुण की सृष्टि दूसरे की अपेक्षा रहित है अत अधिक है।

श्लोक विवेचन

ब्रह्मा!

कहते ह कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की परन्तु ब्रह्मा की सृष्टि की रचना कैसी है? समग्र जगत का सजन पर सापक्ष! दूसरे के अवलबन पर ही सब कुछ होता है ऐसी सृष्टि ब्रह्मा ने क्या रची? इस प्रश्न का समाधान मिलता नही—किसी ने छोटे बालको को समझाते हुए यहा हो ऐसा लगता है 'ब्रह्मा के सृष्टि पैदा करने की इच्छा हुई और उसने सृष्टि पैदा करदी।' परन्तु यदि वहाँ किसी बालक ने पूछ लिया होता—'ब्रह्मा को किसने पैदा किया?' तो ब्रह्मा ने सृष्टि पैदा की यह बात प्रचलित नहीं होती! बुद्धि मे न बैठे ऐसी

भी यह बात महान् बुद्धिशाली पुरुषो ने भी स्वीकार की है और शास्त्रो में इस बात को सिद्ध करने के प्रयत्न किए है ? 'ब्रह्मा का जन्म कैसे हुआ ?' इसका उत्तर देते है कि 'ब्रह्मा अनादि है'! तो फिर सृष्टि को ही अनादि मान लेने में क्या आपत्ति है ? खैर, हमें इस बात के साथ यहाँ विशेष सबंध नही। यहा तो मुनि ब्रह्मा प्रस्तुत है! मुनि-ब्रह्मा वास्तव में अंतरंग गुणों की रचना करते है गुण सृष्टि का सर्जन करते है—वह रचना इस बाह्य दिखाई देते सृष्टि सर्जन की अपेक्षा अनेक दृष्टियो से बढकर है। गुण सृष्टि के सर्जन में किसी बाह्य कारण की अपेक्षा ही नही।

बाह्य दुनिया के सर्जन मे कितनी पराधीनता ? एक मकान बनाने में, एक स्त्री प्राप्त करने मे, धन-सपत्ति का सचय करने में, सगे-स्नेही जनो के साथ संबंध जोड़ने में-आत्मा से भिन्न जड़-चेतन पदार्थो के बिना चल सकता है क्या ? इन पर पदार्थो के लिये कितने राग और द्वेष करने पड़ते है ? सभी झगड़े और क्लेश पर-पदार्थो को लेकर ही है ? मनुष्य की—जीव मात्र की सुख-दुःख की कल्पनाएँ भी इन पर-पदार्थो को लेकर ही हैं और इन पर-पदार्थो की अपेक्षा कैसी सुदृढ हो गई है कि संसार का जीव पर-पदार्थ के बिना जी भी नही सकता।

मुनि जैसे-जैसे साधना-आराधना के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पर-पदार्थो की सहायता लिये बिना जीवन जीने का प्रयत्न करता है। यथाशक्य कम से कम पर पदार्थो की सहायता लेता है। साथ ही आंतरिक आतमगुणो की सृष्टि रचना करता जाता है। आंतरिक गुण सृष्टि का ऐसा सर्जन करता है कि जिसमें नित्य, स्वाधीन और निर्भय जीवन जीया जा सकता है। इस सृष्टि का प्रलय होने का भय नही। ब्रह्मा की

सृष्टि को तो प्रलय होने का भी भय ! प्रलय अर्थात् सर्वनाश ! इन आत्म गुणो की सृष्टि मे जब जीवन का आरभ होता है तब किसी पर-पदार्थ की अपेक्षा नही, बिल्कुल निरपेक्ष जीवन अर्थात् राग-द्वेष नही, झगडे फिसाद नही—सुख-दु ख के द्वन्द्व नही।

ब्रह्मा की सृष्टि को अपेक्षा मुनिराज की सृष्टि कितनी अधिक बढकर, दिव्य और भव्य होती है ! इस सृष्टि मे इतनी अधिक समृद्धि अनत समृद्धि समायी हुई है कि जीव को पूर्ण तृप्ति हो जाए।

मुनिराज ! आप सृष्टि सजन करने वाले ब्रह्मा की अपेक्षा भी महान् है। ब्रह्मा की दु ख, वेदना और कष्ट भरी दुनिया की अपेक्षा आप कैसी अनुपम सुख, आनद और पूर्ण स्वातत्र्य-पूर्ण गुण-सृष्टि की रचना करते हैं। कहिये ! अब आपको अपनी महत्ता, स्थान और शक्ति का पता चला ? अब तो आपको किसी बात से अमलोप नही न ? और यह कोई कल्पित-मन-घडत बात नही, यह तो शुद्ध सत्य वस्तु स्थिति है, आप इस पर बडी गभीरता पूर्वक सोचे, और आत्मसात् कर। गुण सृष्टि का सृजन करने के लिये आप उत्तेजित होगे और इस कल्पित ब्रह्मा की कल्पित सृष्टि-रचना मे से मुक्त बनेंगे !

रत्नैस्त्रिभि पवित्रा या स्रोतोभिरिव जाह्नवी।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्हत्पदवी न दवीयसी ॥८॥१६०

श्लोकार्थ

जैसे तीन प्रवाहो से पवित्र गगा है वैसे ही तीन रत्नो मे पवित्र तीर्थंकर पद भी सिद्ध योग वाले साधु के लिये दूर नहीं।

खैर, आपको ब्रह्मा-शंकर या कृष्ण नहीं बनना। देवेन्द्र या चक्रवर्तीपन की आपको महत्वाकांक्षा नहीं, आपको तीर्थंकर पद चाहिये—ऐसा न ?

तीर्थंकर पद !

सम्यग् दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य, इन तीन रत्नों से पवित्र पद क्या आपको इस पद की इच्छा है ? यह मिल सकता है। इसके लिये आपको पूर्व तैयारी करनी चाहिये। इस पूर्व तैयारी में दो बातें मुख्य हैं।

(१) भावना।

(२) आराधना।

'मोहान्धकार में भटकते और दुःखी होते जीवों को मैं परम सुख का मार्ग बताकर दुःख मुक्त करूँ—सभी जीवों को भव के बंधनों से मुक्त करूँ'—ऐसी तीव्र भावना चाहिये और बीस स्थानक तप की कठोर आराधना चाहिये। इन दो बातों से तीर्थंकर पद की नींव डाली जाती है और नींव डालने के पश्चात् तीसरे ही भव में उस पर महल बन जाता है। तीर्थंकर नाम कर्म 'निकाचित' करने के पश्चात् आप तीर्थंकर बने ही समझें।

आपकी भावना और आराधना में जैसे-जैसे प्रगति करते जाओगे वैसे-वैसे गुरु भक्ति और ध्यान योग के प्रभाव से तीर्थंकर परमात्मा के स्वप्न में आपको दर्शन होंगे।

विश्व का श्रेष्ठ पद !

तीर्थंकरपन की दिव्यादिव्य समृद्धि !

इस समवसरण की अद्भुत् रचना, अष्ट महाप्रातिहार्य की शोभा, वाणी के पैंतीस गुण और चौंतीस अतिशय—यह वीतराग दशा और सर्वज्ञता-चराचर विश्व को देखना और जानना—शत्रु-मित्र पर समान मध्यस्थ दृष्टि ! ऐसी अवस्था आपको प्रिय है न ! और काम क्या करने का ? धर्मोपदेश द्वारा विश्व को सुखी बनाना।

अरिहन्त पद कहें या तीर्थंकर पद कहें, कैसा गंगा जैसा पवित्र पद है ? पद श्रेष्ठ होते हुए भी अभिमान का लेश भी नहीं। पद सर्वोत्तम होते हुए भी उसका जरा भी दुरुपयोग नहीं। ऐसा यह पवित्र पद है। तीन रत्नों की यह पवित्रता है ! गंगा तीन प्रवाहों से पवित्र है न ! आप तीर्थंकर पद की कामना करें, अभिलाषा रक्खें—यह सर्वथा उचित है।

परन्तु इसके लिये जगत के सभी जीवों पर भाव करुणा को हृदय में स्थान देना। सभी जीवों के हित का ही विचार करना। किसी भी जीव का अहित सोचें या करें नहीं। संसार-वर्ती जीवों के दोष या अवगुण दिखाई दे जाएँ तो उन्हें दूर करने की भावना रखना और सक्रिय प्रयत्न करना, परन्तु दोष देखकर उनकी आत्मा को दोषी न ठहराएँ। तिरस्कार या घृणा न करें। परहित का विचार आपके मन का मुख्य विचार बन जाए।

तीर्थंकर पद-अरिहंत पद प्राप्त करने के मनोरथ, भावना-तमन्ना प्रकट होते हैं—पर तब जब कि आत्मा योग भूमिका में पहुँची हो। संसार का ज्ञान दृष्टि से अवलोकन किया हो, संसार की बाह्य समृद्धि को तुच्छ, असार समझ कर उसका त्याग कर दिया हो, अथवा उसके त्याग का दृढ संकल्प पैदा हुआ हो।

सब प्रकार की श्रेष्ठ-सर्वोत्तम समृद्धि में तीर्थंकर पद की समृद्धि सर्वश्रेष्ठ समृद्धि मानी जाती है, और यही सच्ची समृद्धि है। 'सर्व समृद्धि' के इस अष्टक में पूज्य उपाध्यायजी महाराज अन्तिम समृद्धि 'तीर्थंकर पद' को बताकर अष्टक पूर्ण करते हैं और आत्मा को तीर्थंकर पद की प्राप्ति के उपायों की ओर मुड़ने का निर्देश करते जाते है ? तीर्थंकरपद का कार्य है जगत का दुःख से उद्धार करना ! अतः वह श्रेष्ठ पद है।

ॐ ह्रीं अर्हं नम

२१. कर्म-विपाक-चिन्तन

दुख प्राप्य न दीन स्यात् सुख प्राप्य च विस्मित ।
मुनि कर्मविपाकस्य जानन् परवश जगत् ॥१॥१६१

श्लोकार्थ

साधु कर्म के विपाक के पराधीन बने हुए जगत को जानते हुए दु ख पाकर दीन नही होते और सुख पाकर विस्मित नही होते ।

श्लोक विवेचन

सपूर्ण जगत !

कर्मो की पराधीनता !

कर्मों की परतन्त्रता मे कोई दीन है, कोई हीन है तो कोई अभिमानी है, कोई घर घर भीख मागता है, कोई महल मे मस्त होकर आनन्द मनाता है । कोई इष्ट वियोग मे करुण क्रन्दन करता है, कोई इष्ट का सयोग मे स्नेह का सवनन करता है—कोई रोग—व्याधि से ग्रस्त होकर हृदय विदारक विलाप करता है, कोई निरोगी काया के उन्माद मे प्रलाप करता है ।

कर्मों के कैसे कठोर विपाक है ! ज्ञानावरणीय कर्म के विपाक से अज्ञानता, मूर्खता, मूढता का जन्म होता है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से घोर निद्रा, अँधापन, मिथ्या प्रतिभास-आदि की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म के विपाक तो अति भयानक है। उल्टी ही समझ ! परमात्मा, सद्‌गुरु और सद्धर्म के संबंध मे उल्टी ही कल्पना—हितकारी को अहितकारी माने, अहितकारी को हितकारी माने। क्रोध से झुंझलाए, मान के शिखर पर चढ़कर गिरे, माया जाल को बिछाये ! लोभ सर्प के साथ खेल करे ! मोहनीय कर्म के विपाक कैसे भयानक है। क्षण मे प्रसन्न, क्षण से अप्रसन्न ! क्षण में हर्ष-क्षण में शोक बात ही बात मे भय और बात-बात में जुगुप्सा ! पुरुष स्त्री भोग-सभोग का अभिलाषी और स्त्री को पुरुष का शरीर सुख प्राप्त करने की व्यग्रता। नपुंसक को स्त्री पुरुष दोनों के प्रति आकर्षण। अतराय कर्म के विपाक भी कैसे जटिल और पक्के है। पास मे देने की वस्तु हो, लेने वाला योग्य, सुपात्र व्यक्ति हो, फिर भी देने की इच्छा नही होती—वस्तु सामने हो, प्रिय लगती हो, फिर भी प्राप्त न हो ! स्त्री-वस्त्र-बंगला होते हुए भी उसका उपभोग न कर सके ! भोजन मनोनुकूल होने पर भी खा न सके, तपश्चर्या करने के भाव पैदा न हों।

मुनि किसी को उच्च कुल में जन्मा हुआ देखे, किसी को नीच कुल में जन्मा हुआ देखे—उसका समाधान इस प्रकार करता है 'यह गोत्र कर्म का विपाक है।' मुनि किसी को निरोगी, मस्त शरीर वाला देखे और किसी को दुर्बल, रोगी और सड़ी हुई काया वाला देखे—उसका समाधान इस प्रकार करता है : यह शाता-अशाता वेदनीय कर्म का विपाक है।' मुनि किसी जीव को मनुष्य के रूप मे देखता है किसी को देव रूप में

जानता है, तो किसी को नरक रूप मे जानता है—ऐसा क्यो ? इसका समाधान मुनि इस प्रकार करता है यह आयुष्य कर्म और गति नाम कर्म का विपाक है।' मुनि किसी को बाल्यकाल मे मरता हुआ देखता है, किसी को जवानी मे तो किसी को वृद्धावस्था मे मरता हुआ देखता है उसे दुख शोक या आश्चर्य नही होता। वह समाधान करता है 'यह आयुष्य कर्म का विपाक है।'

मुनि किसी को सौभाग्यशाली, किसी को दुर्भाग्यशाली, किसी को यशस्वी, किसी को अपयश वाला, किसी को मधुर स्वर वाला, किसी को कर्कश स्वर वाला, किसी को रूपवान्, किसी को कुरूप, किसी को हस गति वाला तो किसी को ऊँट गति वाला देखता है—तो उसे किसी प्रकार का हर्ष या शोक नही होता। "यह सब नाम कर्म का परिणाम है" इस प्रकार समाधान करता है।

मुनि अपने जीवन मे भी ऐसी विषमताएँ देखता है तब यह 'ऐसा कैसे हुआ ? ऐसा कैसे होता है ? इस प्रकार परेशान नही होता।' वह कर्म के विपाकों के विज्ञान से परिचित होता है। उसके पीछे रहा हुआ कर्म के बध का विज्ञान भी उसके पास होता है। वह न दीनता दिखाता है, न हर्षोन्माद करता है। सुख और दुख के द्वन्द्व ऐसे विज्ञानी मुनि के चित्त मे हर्ष-शोक के चढाव उतार पैदा नही कर पाते। स्वय को वे सुखी या दुखी मानते नही। कर्म के उदय में, भले ही वे शुभ हो या अशुभ हो, सुख-दुख की कल्पना नही करते।

दीनता और हर्षोन्माद के चक्कर मे से मुक्त होने का यह एक वैज्ञानिक मार्ग है। जगत को कर्म के अधीन समझो। ससार की प्रत्येक घटना के पीछे कर्म तत्त्व की गहरी और

वास्तविक समझ प्राप्त करो। यह समझ आपको दीन न होने दे, विस्मित न होने दे। दीनता और विस्मय के जाते ही आप अंतरंग आत्म समृद्धि की ओर मुड़ेगे।

येपां भ्रूभङ्गमात्रेण भज्यन्ते पर्वता अपि।
तैरहो कर्मवैपम्ये भूपैर्भिक्षाऽपि नाप्यते ॥२॥१६२

जिनके भृकुटी के चढाने मात्र से पर्वत तक टूट जाते है ऐसे बलवान राजा भी कर्म की विषमता आ गिरती है तब भिक्षा भी प्राप्त नही कर सकते—यह आश्चर्य है।

श्लोक विवेचन

कर्मो की कैसी कुटिल विपमता !

राजा रास्ते पर भटकते हुए भिखारी बन जाएँ। भीख माँगने पर भी भिक्षा न मिले ! जिन सम्राटों की भृकुटी चढने पर हिमाद्रि जैसे पर्वत काँप उठें…सम्राट की सेना के आक्रमण से पर्वत के शिखर भी टूट गिरे—शत्रुओ के छक्के छूट जाएँ, पृथ्वी के पाट उखड़ जाएँ—वे राजा, महाराजा और सम्राट-जब कर्म पलट जाते हैं, तब रंक-दीन और गरीब बन जाते हैं।

प्राचीन इतिहास के पृष्ठों मे अकित ऐसे अनेक राजा-महाराजाओं के पतन-यकायक घटित अध. पतन आपने पढ़े होगे। किन्ही के प्रति आपका हृदय सहानुभूति से द्रवित हो उठा होगा जब कि किसी के प्रति 'यह इसी के लायक था —' ऐसे कठोर संतोप का भी अनुभव किया होगा, परन्तु ऐसा यकायक पतन क्यों ? जिसका नाम विश्व के दरबारों में प्रसिद्ध था, उसका यकायक पतन कैसे ?' इस प्रश्न का सही समाधान आपने किया है क्या ?

रूस का क्रुश्चेव ! अमेरिका के 'माधाता भी उससे थर्राते थे। उसके आग बरसाते शब्द विश्व के एक-एक मानव को जलाते थे। जिसने रूस के स्टालिन, लेनिन और बुलगानिन को भी जनमन मे से मिटा डाले थे और स्टालिन, लेनिन की कब्रें खुदवाकर उनके शव भी फिकवा दिए थे—उस क्रुश्चेव का एक रात मे पतन ? आज उसका नाम निशान तक नही रहा।

अमेरिका के केनेडी ! U S A के प्रेसिडेन्ट ! क्षण भर मे गोली के शिकार हो गए दुनिया के मच पर अनेक बार होते ऐसे पतन और विनाश के पीछे एक अदृश्य पर सत्य, अरूपी पर वास्तविक तत्त्व काम कर रहा है इसका पता है क्या ?

यह तत्त्व है कर्म तत्व।

यश, सौभाग्य, कीर्ति, सत्ता, बल—आदि 'शुभ कर्म' के फल है, परन्तु ये शुभ कर्म, जो कि आत्मा पर लगे हुए हैं, इनकी काल मर्यादा होती है। इस कालमर्यादा को सामान्य इन्सान नही जानता इसीलिये वह इसकी दीर्घ कालमर्यादा समझ बैठता है। परन्तु उसकी कल्पना से कम कालमर्यादा वाले शुभ कर्म जब पूरे हो जाते हैं और अशुभ कर्मो का अचानक उदय हो जाता है तब ऐसी अकस्मात् पतन और विनाश की दुर्घटनाएँ हो जाती हैं।

अपयश दुर्भाग्य, अपकीर्ति, निर्बलता और सत्ता-भ्रष्टता अशुभ कर्मो का परिणाम है ! अरब के नेता नासर को छोटे से देश-इजराइल ने अपयश दिया, अपकीर्ति का काला तिलक लगाया और नासर 'बलहीन आदमी' के रूप मे बाहर आए।

क्यों ? उनके शुभ कर्मों की काल मर्यादा पूर्ण हो चुकी थी। अशुभ कर्मों ने उनकी आत्मा पर कब्जा कर लिया था !

हाँ पुनः शुभ कर्मों का उदय हो सकता है। अशुभ कर्मों की कालमयार्दा पूर्ण होते ही शुभ कर्मों का पुनः उदय होता है।

और भी विचित्रता है, अमुक अशुभ कर्मों का उदय जारी हो तव अमुक शुभ कर्म भी साथ ही उदय में हो सकते है, परन्तु प्रतिपक्षी नही। उदाहरण के तौर पर यश का उदय हो तव उसका प्रतिपक्षी अपयश-अशुभ कर्म उदय में नही आ सकता परन्तु रुग्णता जो कि अशुभ कर्म है, उसका उदय हो सकता है; क्योकि रुग्णता यश का प्रतिपक्षी कर्म नहीं है।

कर्म जहाँ तक अनुकूल होते है तव तक जीव भले ही ऊधम मचाता रहे, गर्व करे; परन्तु जहाँ कर्मो की विपमता पैदा हुई कि जीव के ऊधम ठंडे हो जाते है, गर्व गल जाता है और वह जगत में हँसी का पात्र वनता है। कर्मो की विषमताओं का ज्ञान प्राप्त करो।

जातिचातुर्यहीनोऽपि कर्मण्यभ्युदयावहे।
क्षणाद् रङ्कोऽपि राजा स्यात् छत्रछन्नदिगन्तरः ॥३॥१६३

श्लोकार्थ

अभ्युदय करने वाले कर्म का उदय होता है तव जाति और चतुराई से हीन होते हुए भी क्षण में, छत्र द्वारा ढँका है दिशा मंडल जिसने, ऐसा राजा होता है।

श्लोक विवेचन

इसकी जाति हीन है।
इसकी चतुराई का ठिकाना नहीं।

फिर भी चुनाव मे निर्वाचित हो जाता है। प्रधान वन जाता है। आज राजा तो कोई वन सकता नही न। राजाओ के राजसिंहासन छीन लिये गए, और आज के प्रधान राजा राजाओ के भी राजा वन गए।

'जाति विहीन समाज रचना' की आज हवा चल रही है। अत जो हीन जाति के थे उन्हे इरादापूर्वक उच्च स्थान पर विठाया जा रहा है और उच्च जाति के बुद्धिशाली वर्ग को हीन दृष्टि से देखा जाता है। अन्तर्जातीय शादिया की जा रही हैं और ऐसी शादियाँ करने वालो का सरकार सम्मान करती है। परन्तु भले ही हीन जाति मे उत्पन्न व्यक्ति को उच्च सत्ता का स्थान दिया जाए या सम्मान दिया जाए, जात्यनुसार परिणाम निकले विना कैसे रह सकता है ?

परन्तु ऐसा क्यो हुआ ? जातिहीन और चतुराई रहित मनुष्य उच्च स्थान पर कैसे वैठ गए ? इसका समाधान यहा किया गया है अभ्युदय करने वाले कर्म के उदय से। शुभ कर्म का उदय मनुष्य का अभ्युदय कर देता है। शुभ कर्म का उदय रक और जाति हीन के भी होता है। बुद्धि रहित को शुभ कर्म सत्ता के सिंहासन पर विठा देता है।

आज मानो इन हीन जाति वालो, बुद्धिहीन मनुष्यों का सामुदायिक शुभ कर्मों का उदय हो आया है। आज देखने को मिलता है कि हीन जाति वाला 'साहब' वन बैठा है और उत्तम जाति वाला उसे सलाम करता हुआ चपरासी है। बुद्धि और ज्ञान रहित मनुष्य 'वडा आदमी' वना है और बुद्धिशाली तथा ज्ञानी पुरुष उसका 'बग' उठाकर चलता है।

यश, कीर्ति, सौभाग्य, सुस्वर, आदेयता—आदि कर्म उच्च या नीच जाति नहीं देखते। इसी प्रकार अपयश, अपकीर्ति,

दुर्भाग्य, दुस्वर, अनादेयता के लिये उच्च जाति अस्पृश्य नहीं है। आज स्वतंत्र भारत का जो संविधान अस्तित्व में है उस संविधान के बनाने वाले डा० अम्बेडकर कौन थे ? ढेड़ थे। कुछ समय पूर्व कॉंग्रेस प्रमुख कामराज कौन थे ? ढेड़ जाति के ! भारत के राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसेन मुसलमान थे, जो कि म्लेच्छ कहलाते हैं। भारत के ऐसे उच्च पदों पर हीन जाति के लोग बैठे हुए हैं इसका कारण क्या ? शुभ कर्मों का उदय !

जब कि उच्च जाति के लोगों की कीर्ति मानो लुप्त हो चुकी है सौभाग्य और आदेयता का नामो निशान नही रहा। शंकराचार्य जैसे तीस करोड़ हिन्दुओं के धर्म गुरु को सरकार ने जेल मे विठा दिया, उनकी गोरक्षा की बात सरकार ने न सुनी, उनका अनादर किया !

यह सब कर्मों का खेल है। इनमें हर्ष-शोक करने की बात नही। एक कवि ने कहा है :—

कबहुँक काजी कबहुँक पाजी

कबहुँक हुआ अप भ्राजी

कबहुक कीर्ति जग मे गाजी

सब पुद्गल की बाजी—

कभी तुझे कोई 'काजी' कहते हैं, एक दिन तुझे वे ही लोग 'पाजी' कहेगे कभी तेरी कीर्ति जगत में फैलती है। यह सब कर्म-पुद्गल का खेल है। आज ऐसे अनेक दृष्टांत देखने में आते हैं। कामराज (कॉंग्रेस प्रमुख) को कौन नही जानता। कुछ समय पूर्व वे समग्र भारत पर छा गए थे, परन्तु आज उन्हे कितने लोग जानते है। शुभ कर्मो के उदय की काल मर्यादा पूरी होने तक की देर थी। ऐसे तो कई मनुष्य पृथ्वी के

मालिक बने और धूल मे मिल गए । कर्मो की इस अगम कला को थाह केवल ज्ञानी के सिवाय कौन पा सकता है ?

"इन कर्मो की लख लीला मे लाखो है कगाल,
चढती, गिरती, हँसती, रोती, टेढी इनकी चाल ।"

विपमा कर्मण मृष्टिर्दृष्टा करभपृष्ठवत् ।
जात्यादिभूतिवैपम्यात् का रतिस्तत्र योगिन ।।८।।१६४

श्लोकाथ

ऊट की पीठ जैसी कम की रचना, जाति आदि की उत्पत्ति की विपमता मे समान नही ऐसी जानी हुई है, इसमे योगी को क्यो प्रीति होने लगी ?

श्लोकार्थ

ऊट के, गठाग्हो टेढे ।
कर्मों के अनत टेढे ।

सर्वत्र विपमता ! कर्मों से सृजित दुनिया विपमताओ से ही भरी हुई है । कही भी समानता नही । जाति मे विपमता, कुल मे विपमता, शरीर, विज्ञान, आयुप्य, बल, भोग-सभी मे विपमता । योगी पुरुप को ऐसी कर्म सृजित दुनिया मे प्रीति कैसे हो सकती है ?

☸ विश्व मे विपमताओ का दशन करो ।

☸ विपमताओ का दशन होने के पश्चात् विश्व पर प्रीति नही होगी ।

☸ उससे आसक्ति घटेगी ।

☸ उससे हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह के पाप घटेगे ।

❀ तव मोक्ष की ओर दृष्टि होगी।

❀ कर्मों के वंधन तोड़ने का पुरुषार्थ होगा।

❀ किसी भी जीव के दु:ख में आप निमित्त नहीं वनेंगे।

❀ आप योगी वन जाएंगे।

'प्रशमरति' ग्रथ मे भगवान उमास्वातिजी ने कहा है :

जाति, कुल, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, वल और भोगों की विपमता देखकर विद्वानो को (जन्म मरण रूप) संसार में प्रीति क्यों होने लगी ?

यदि आपको आपकी जाति की उच्चता मे प्रसन्नता होती है, यदि आपको अपने कुल की महत्ता गाने मे आनंद आता है, यदि आपको अपने शरीर के सौन्दर्य में हर्ष होता है, यदि आपको अपने कला-विज्ञान पर गर्व होता है, यदि आपको अपनी आयु पर भरोसा है, यदि आप अपने द्रव्य वल पर, शरीर वल पर, स्वजन वल पर दृढ़ हैं, यदि आपको अपने भोग सुख ललचाते है, तो आपने इन सव मे रही हुई विपमता देखी नहीं, यह निश्चित हो जाता है। विपमता दीखे वहां रति नहीं होती, खुशी नहीं होती। रति-खुशी जहां होती है वहां विषमता नहीं दीखती।

❀ संसार के विषयों में विपमता नही दिखाई देती अर्थात् उनमे आकर्पण पैदा होता है।

❀ फिर अभिलाषा होती है।

❀ फिर रति-आसक्ति होती है।

❀ उन विषयों को प्राप्त करने के प्रयत्न होंगे।

❀ इन प्रयत्नों में पापों का भी आचरण होगा।

❀ विषय प्राप्ति के पश्चात् मन में विषमता भी छाएगी।

इन मानसिक और शारीरिक वेदनाओ के भोग हम न बने, इसके लिये यहा पूज्य उपाध्यायजी महाराज 'विश्व विषमता' देखने का निर्देश करते है।

किसी की जाति की उच्चता या नीचता समान रहती नही। किसी के कुल की विशालता या भव्यता समान रहती नही। किसी के शरीर का आरोग्य एक सा रहता नही। किसी का कला-विज्ञान एक सा टिकता नही। किसी की आयुष्य इच्छानुसार रहती नही। किसी का बल एक सा टिकता नही। किसी को भोग सामग्री एक सी निरन्तर मिलती नही। इसका नाम है विषमता।

इस विषमता का जन्म होता है कर्मो के कारण। भगवान ने ऐसा विषमतापूर्ण विश्व पैदा नही किया। भगवान ने तो ऐसे विषमता भरे विश्व का दर्शन करवाया है। यह सृष्टि ईश्वर सृजित नही परन्तु कर्म सृजित है। जीव स्वय ही वैसे वसे कर्मों की अपने आसपास दुनिया की रचना करता है। उन्नति और अवनति, आबादी और बरबादी, उत्थान और पतन सभी कर्म जन्य हैं। सुख और दुख, शोक और हर्ष, आनद और विषाद ये सभी वैन्द्र कर्मो के ही फल हैं।

विद्वान् पुरुष, योगी पुरुष ऐसी दुनिया मे मुग्ध नही होता। वह तो इस दुनिया मे विषमताओ का दर्शन करता है।

आरूढा प्रशमश्रेणिश्रुतकेवलिनोऽपि च।
भ्राम्यतेऽनन्तमसारमहो दुष्टेन कर्मणा ॥५॥ १६५

श्लोकार्थ

उपशम श्रेणी पर चढ़ हुए और चौदह पूर्वधर भी, आश्चर्य है कि दुष्ट कर्मों के द्वारा अनत ससार मे भटकाए जाते हैं अर्थात् दुष्ट कर्म उन्हे अनन्त ससार मे भटकाते हैं।

श्लोक विवेचन

उपशम श्रेणी

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पाचवे, छठे, सातवे यहा.... तक कि ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुंच जाए। जहाँ मोहोन्माद शान्त, प्रशांत–उपशांत हो जाता है। जैसे जैसे मोह घटता जाता है वैसे वैसे ऊपर ऊपर के गुणस्थानक पर आत्मा पहुंचती–जाती है।

हां, क्षपक श्रेणी वाला तो इस फिसलाने वाले ग्यारहवें गुण स्थानक पर जाता ही नहीं। दसवे से छलाग मारकर बारहवे पर ही पहुंचता है। वहां मोह उपशांत ही नही होता, उसका क्षय ही हो जाता है। बारहवे गया हुआ नीचे नहीं गिरता। तेरहवे पहुचकर वीतराग बनता है–फिर आयुष्य पूर्ण कर चौदवे गुणस्थान मे होकर मोक्ष नगर में प्रविष्ट होता है।

परन्तु यह ग्यारहवां गुणस्थानक तो चिकनी फिसलाने वाली सीढी की तरह पक्का। इस ग्यारहवे गुणस्थानक पर मोहनीय कर्म की धाक रहती है। वहां से कोई भी शूरवीर या महावीर ऊपर नही जा सकता, वहां कर्म की ही प्रबलता, कर्म की ही विजय और कर्मो का ही सर्वोपरिपन !

भले ही दस पूर्वो का ज्ञान हो। चारित्र्य का उत्तम पालन हो, उछलता वीर्योल्लास हो, परन्तु ग्यारहवे गुणस्थानक पर आया कि कर्म के पिंजरे में फंसा। फिर अनतकाल तक ससार मे भटकाए ! इसे चौदह पूर्वधर की भी शर्म नही। इसे उत्तम सयमी को भी लज्जा नही। यह है कर्म की निर्लज्जता !

यहां कर्म की ओर आखें लाल करके पूज्य उपाध्यायजी कहते है : 'दुष्टेन कर्मणा' ! वे जब उपश्रेणी पर चढ़े हुए और

ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुचे हुए महर्षि को धक्का देकर नीचे गिराते हुए 'कर्म' को देखते है, तब उनके अग अग मे आग लग जाती है-वे काप उठते है-और 'दुष्ट कर्म' बोल उठते है। कर्म के बधनो को तोडने के लिये वे चिल्लाने लगते हैं।

कर्मों का अन्तिम मोर्चा 'उपशातमोह' ग्यारहवे गुणस्थानक पर ही होता है, और यह मोर्चा सदा-सर्वदा-सब के लिये अपराजेय होता है। हा, जो दसवे गुणस्थानक से सीधा बारहवे गुणस्थानक पर कूदकर चले जाते है वे इस मोर्चे मे फसते नही। 'उपशात मोह' का अर्थ जानते हो? आओ एक सामान्य दृष्टान्त से उसे समझे

पानी से भरा हुआ एक प्याला है, परन्तु वह पानी स्वच्छ नही, कचरे से भरा हुआ है। आपको वह पानी पीना है। आपने उसको छान डाला। फिर भी उसमे बारीक रज दिखाई देती है। आप उस गिलास को नीचे रख दो। कचरा धीरे धीरे पानी के नीचे बैठता जाएगा। थोडी देर धैर्य रखोगे तो कचरा बिल्कुल नीचे बैठ जाएगा और पानी बिल्कुल स्वच्छ हो जाएगा। हा, पानी मे कचरा तो है ही, परन्तु उपशात बना हुआ। इसी प्रकार आत्मा में मोह तो होता है पर बिल्कुल पदे बैठा हुआ। आत्मा निर्मल-मोहरहित दिखाई दे! परन्तु उस गिलास को यदि कोई हिलाए तो? कचरा ऊपर उठकर पानी को गदा कर डालता है उसी प्रकार उपशात मोहयुक्त आत्मा को यदि कोई हिलाए, कोई छेडछाड कर जाए तो मोह आत्मा मे फैल जाता है। आत्मा को मैली कर डालता है, हिलाकर गदी कर डालता है।

उपशात मोह मे निर्भयता नही। हा, मोह क्षीण हो जाए, अर्थात् उस पानी को बिल्कुल कचरे से रहित कर दिया जाए,

तो फिर उस पानी के प्याले को चाहे जितना हिलाओ, कचरा आएगा ही नही । मोह का सर्वथा क्षय हो जाने के बाद चिन्ता नहीं । उसे ससार का कोई निमित्त मोहाधीन नही कर सकता कर्मों का वस नहीं चलता ।

कर्मों की कठोर लीला-क्रूर मजाक कहां तक होती है ! बिल्कुल ग्यारहवें गुणस्थानक तक । चौदह पूर्व के ज्ञान वाले श्रुतकेवली भी वहां हार जाते हैं । चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भी प्रमादवश होकर अनंतकाल तक निगोद मे निवास करते हैं । कर्मों की ऐसी भयंकरता है । ऐसे कर्मों के विपाकों का चिंतन कर, इन कर्मों के क्षय हेतु कमर कस लेनी चाहिये ।

अर्वाक् सर्वाऽपि सामग्री श्रान्तेव परितिष्ठति ।
विपाकः कर्मणः कार्यपर्यन्तमनुधावन्ति ॥६॥ १६६

श्लोकार्थ

निकट रही हुई अन्य सभी प्रकार की कारण सामग्री का अन्त आ जाता है, परन्तु कर्म का विपाक कार्य के अन्त तक पीछा करता है ।

श्लोक विवेचन

कर्म का विपाक अर्थात् कर्म का परिणाम-फल ।

कोई भी कार्य कारण विना नहीं हो सकता; और प्रत्येक कार्य के पीछे पांच कारण काम करते हुए होते हैं:–

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) भवितव्यता
(४) कर्म
(५) पुरुषार्थ

परन्तु इन सब मे प्रमुख कारण 'कर्म' है। कर्म का विपाक कार्य के अंत तक पीछा नही छोडता। अन्य सभी कारण थक जाते हैं। कोई काय की भूमिका बाँध देता है। कोई कार्य का श्री गरोश करवाकर रवाना हो जाता है—कोई कार्य के बीच मे थक कर बैठ जाता है, परन्तु कर्म नही थकता। जहाँ तक कार्य का जन्म होता है, कार्य चलता है और उसका नाश होता है तब तक कर्म तो साथ ही। उसे विश्राम ही नही।

जितना भय अन्य कारणो का नही उतना भय कर्म का है। कम का क्षय होते ही अन्य कारण तो सहज ही दूर हो जाते हैं, इन कारणो को दूर करने के लिये परिश्रम नही करना पडता। अन्य कारण तो कम का अनुगमन करते हैं।

अत कर्म के अनुचिंतन मे, कर्म का ही क्षय करने का पुरुषार्थ करना है। कर्म का क्षय करने के लिये मनुष्य को कम ने ही अनुकूल सामग्री दी है। स्वय का क्षय करने के लिये स्वय ही कम सामग्री दे रहा है।

★ आपको मनुष्य गति मिली है ?
★ आपको आर्य भूमि मे जन्म मिला है।
★ आपको शरीर का आरोग्य मिला है।
★ आपकी पाचो इन्द्रिया परिपूर्ण हैं।
★ आपको विचारवान् मन मिला है।
★ आपको सुदेव-गुरु-धम का योग प्राप्त हुआ है।

कर्मों का नाश करने के लिये आपको और क्या चाहिये ? इससे अधिक सामग्री की आवश्यकता है क्या ? क्या कर्मों का नाश करने की भावना भी कर्म ही जगाए ऐसा चाहते हैं ? कर्मों के द्वारा दी हुई सामग्री का सदुपयोग करते तो आता

नही और अधिक सामग्री प्राप्त करने की लालसा रखते हैं। आप नहीं जानते कर्म की क्रूरता को ! आपको दी हुई अनुकूल सामग्री का सदुपयोग न किया तो वह आपको दी हुई सामग्री भी छीन लेगा और आपको ऐसी स्थिति में रख देगा कि आप उसके गुलाम मात्र रह जाएँगे।

यदि प्राप्त सामग्री का आप सदुपयोग करेंगे, कर्म आपको उससे भी उच्च सामग्री से पुरस्कृत करेगा। उस सामग्री द्वारा आप कर्मों का नाश कर सकेंगे। क्या आपने ऐसे दृष्टान्त नहीं सुने ?

कर्म आपको प्रत्यक्ष दिखाई नही देते अत उनका नाश भी अप्रत्यक्ष कर्म के द्वारा ही करना होता है। धर्म से कर्म का नाश होता है। धर्म आत्मा का है, परन्तु आत्मा तक पहुँचाने के लिये पाँच इन्द्रियों और मन का सदुपयोग करना पड़ता है। दुनिया के तुच्छ सुखो मे इन इन्द्रियों और मन को लगाओ नही, तभी आप आत्मा तक पहुँच सकेंगे और आत्म धर्म को प्राप्त कर सकेंगे। आत्म धर्म से कर्म का क्षण में क्षय हो सकता है। जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होता जाएगा.वैसे-वैसे अदृश्य धर्म तत्त्व के साथ का सबंध दृढ होता जाएगा।

अतः काल, स्वभाव, भवितव्यता आदि के दोष देखे विना कर्म का नाश किस प्रकार करना, यही सोचो। यदि कर्म को छोड़कर 'यह काल बुरा है—भवितव्यता अच्छी नही'- आदि वहाने ढूँढते रहे तो कर्म चढ़ वैठेगे। दुःख, अशांति, क्लेश और संताप में सिक जाओगे। अतः धर्म के लिये पुरुषार्थ करो। कर्मों के भय की गंभीरता समझो, प्रमाद को छोड़कर कर्मों का नाश करने के लिये कटिवद्ध हो जाओ।

अमावचरमावर्ते धर्मं हरति पश्यत ।
चरमावर्तिसाधोस्तु छलमन्विष्य हृष्यति ।।७।।१६७

श्लोकार्थ

यह कर्म विपाक अन्तिम पुद्गल परावर्त के सिवाय अन्य पुद्गल परावत मे देखते हुए भी धर्म का हरण करता है, परन्तु चरम पुद्गल परावर्त मे वर्तन करते हुए साधु के छिद्रान्वेषण कर प्रसन्न होता है।

श्लोक विवेचन

चरम पुद्गल परावर्त काल !
अ-चरम पुद्गल परावत काल !

'पुद्गल परावर्त' किसे कहते हैं, इसके विषय मे ज्ञान परिशिष्ट मे प्राप्त करे। यहा तो कर्म का काल के साथ, काल के माध्यम मे आत्मा के साथ कैसा मेल-वैमनस्य है, यह बताया गया है। जहाँ तक आत्मा अन्तिम पुद्गल परावत काल मे प्रविष्ट न हुई हो वहाँ तक कर्म आत्म धर्म समझने नही देते। आत्म धर्म स्वीकार करने ही न दे। हा, परमात्मा मे मदिर मे जाए, परन्तु परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये नही, बल्कि परमात्मा को पास से सांसारिक सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से जाता है। गुरु-महाराज को वदन करे, भिक्षा दे, उनकी भक्ति करे, परन्तु सम्यग दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की प्राप्ति के लिये नहीं ! परलोक के सुखो की प्राप्ति हेतु। यहाँ तक, कि साधुपन भी ग्रहण कर ले ! परन्तु साधुता की आराधना से वह मोक्ष की इच्छा न करे, आत्मा की विशुद्धि न चाहे। वह चाहेगा देव लोक के दिव्य सुख। 'चारित्र्य के पालन से देवलोक की प्राप्ति होती है' ऐसा शास्त्रो में से सुनकर वह चारित्र्य भी अंगीकार करे ! चारित्र्य पालन भी कैसा करे ?

निरतिचार ! फिर भी कर्म के बंधनों से मुक्त होने के भाव उसमे पैदा नही होंगे। कर्म ऐसे भाव पैदा ही नहीं होने देंगे। वहाँ तो बेचारे जीव को दीन गाय की भाँति जैसे चलाए वैसे चलना ही पडेगा।

कर्मो के बंधन मे से आत्मा को मुक्त करने का विचार भी अ-चरमावर्त्त काल में नही आता। हाँ, धर्म करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु यह धर्म साधना संसारवृद्धि हेतु ही होती है।

चरमा वर्त काल मे आत्म धर्म की समझ आती है। आत्म धर्म की आराधना उपासना भी होती है। हाँ, एक बात है— आत्मा को कर्म बधन से मुक्त करने में झूझते मुनि के आसपास कर्म चक्कर लगाते ही रहते है, छिद्रान्वेषण के चक्कर में रहते है। कोई विघ्न दिखाई दिया कि कर्म घुस पड़ता है और मुनि के मुक्ति पुरुपार्थ को पंगु बना डालता है। विघ्न खड़े कर देता है। अतः मुनि को कोई छिद्र होने ही नही देना चाहिये, कोई पोल रहने नही देनी चाहिये।

प्रमाद के छिद्रो मे होकर कर्म प्रवेश करते है।

निद्रा, विपय, कपाय, विकथा और मद्यपान ये पाच बड़े प्रमाद है। मुनि के लिए निद्रा पर सयम रखना आवश्यक होता है। रात के दो प्रहर-छ. घटो तक ही निद्रा लेनी चाहिये, वह भी गाढ निद्रा नही। दिन मे नींद का त्याग करना पड़ता है। पांचो इन्द्रियों के विपयो में से किसी भी विपय में [आसक्ति नही की जा सकती। क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कपायों के वश में होना नही। विकथाओ में फंसना नही। स्त्री-चर्चा साधु नही कर सकता। भोजन विपयक वातो से दूर रहना है। देश और राजा-प्रधानो की कपटपूर्ण और दाव-पेच से

युक्त बातो मे साधु रुचि न ले। मद्यपान तो साधु कर ही कैसे सकता है? यदि इन पाच प्रमादो से साधु बचकर रहे तो कर्म को प्रवेश का कोई मार्ग ही नही मिल सकता। भले ही वह चारो ओर चक्कर काटता फिरे।

तात्पय यह है कि मुनि यदि कर्म को मार्ग दे तो कर्म उसे सताता है। मार्ग न दे तो कर्म उसका कुछ भी अहित नही कर सकता। मार्ग देना, न देना मुनि पर निर्भर है। प्रमाद के आचरण को भी 'कर्म कृत' मानकर यदि चले, तब तो पतन ही होगा। चरमावर्तकाल मे प्रमाद के सेवन मे कर्म का हाथ नही होता, यह बात समझ लेनी चाहिये। कर्मो की कुटिलता समझे बिना यह बात गले उतरे ऐसी नही है। अत कम का अनुचिंतन अत्यधिक करना चहिये। कर्म के विपाको का विचार कम्पित कर डालता है।

साम्य बिभर्ति य कम विपाक हृदि चिन्तयन्।
म एव स्याच्चिदानन्दमकरन्दमधुव्रत ॥८॥१६८

श्लोकार्थ

हृदय मे कर्म विपाक का चिन्तन करता हुआ जो समभाव को धारण करता है, वही (योगी) ज्ञानानद स्वरूप पराग का भोगी भ्रमर होता है।

श्लोक विवेचन

योगीराज! आप भोगी भ्रमर हैं,
ज्ञानानद पराग के भोक्ता!
आपके हृदय मे कर्म विपाक का चिंतन
और आपके मुख पर समता का सवेदन।

कर्मों के विपाकों के चितन विना समभाव का वेदन नही होता। समभाव के वेदन विना ज्ञानानन्द का अमृतपान नहीं हो सकता, अर्थात् इस श्लोक में से तीन वाते फलित होती है :—

(१) कर्म विपाक का चिंतन।

(२) समभाव।

(३) ज्ञानानंद का अनुभव।

कर्म विपाक के चितन मे से समभाव प्रकट होना चाहिये, अर्थात् जगत के सभी जीवों के प्रति समत्व प्रकट होना चाहिये। न किसी के प्रति राग, न किसी के प्रति द्वेप। मित्र पर राग नही, शत्रु पर द्वेप नही। कर्मकृत भावो के प्रति न हर्ष, न शोक। यह कर्म विपाक के चितन से ही शक्य हो सकता है।

यदि हमे राग-द्वेप, हर्प-शोक होता है, तो हमारा चितन कर्म-विपाक चितन नही-ऐसा मान ही लेना चाहिये। राग-द्वेप होता है, हर्प-शोक होता है, रति-अरति होती है, उसका कारण कर्म का दोप न देखते, 'मैं कर्म विपाक का चितन नहीं करता, इसलिये होता है"—यह समाधान अधिक अच्छा है। कर्म विपाक के चिन्तन विना राग-द्वेष नही घटते। जिन महात्माओ ने मरणांत उपसर्ग होने के समय कोई द्वेप पूर्ण विलाप नही किया, तो इसके पीछे क्या था! "उनकी तो पूर्व भवो की आराधना थी"—ऐसा कहकर समाधान करने की हम कैसी भूल कर वैठते है! उनका कर्म-विपाक का चितन उनकी समता में, समभाव मे असाधारण कारण था, यह मानने की आवश्यकता है। यह चिन्तन आत्मसात् हो जाना चाहिये। जीवन में आने वाले प्रसगों मे सदैव 'कर्म-विपाक का' विज्ञान उपयोगी वनाया जाए, तो कसौटी के समय समभाव रखना सरल हो सकता है।

समभाव के बिना ज्ञानानन्द कहा से प्रकट हो सकता है ? ज्ञानानद समभाव मे से प्रकट होता है। राग-द्वेष का जहर शात होने के पश्चात् ही ज्ञान का ग्रानद, ग्रात्मानद प्रकट होता है। राग द्वेष मे से पैदा होने वाला ग्रानन्द विपयानद होता है, उसे ज्ञानानद मानने की भूल न कर बैठे। निरन्तर ज्ञानानद का उपयोग करने के लिये समभाव को ग्रखडित रखना चाहिये। समभाव को खडित न होने देने के लिये कर्म-विपाक का चिन्तन सतत रखना चाहिये। कैसा व्यवस्थित क्रम पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने बताया है !

ससार मे दिखाई देती विपमताग्रो का समाधान 'कर्म विपाक' के विज्ञान द्वारा न किया जाय तो ?

तो, ससार के जीवो के प्रति द्वेष होगा, राग होगा। राग ग्रौर द्वेष मे से ग्रनेक ग्रनिष्ट पैदा होगे। हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया ग्रौर लोभ ग्रादि सैकडो दोप पैदा होगे—इस से जीवो का जीवन ग्रपने ही हाथो ग्रसुरक्षित हो जाएगा। परस्पर शका, घृणा द्वेप ग्रौर वैर-विरोध बढ जाएँगे। उनमे। विपमताएँ बढती ही जाएँगी ! मोक्ष मार्ग की ग्राराधना तो दूर ही रहने की।

दूर कहाँ जाते हो ? भूतकाल की घटनाग्रो को भी देखने की ग्रावश्यकता नही ग्राज के विश्व मे ही दृष्टिपात करो। जो जीव यह कर्म विज्ञान नही जानते, उनके जीवन देखो। वे कितने ग्रशात है ? कितने चितातुर हैं ? ग्रात्मा से, परमात्मा से, धर्म से वे कितने दूर जा गिरे हैं।

ग्राप तो मुनिराज हैं। मोक्षमार्ग पर चलकर, कर्मो के बधन तोडकर शुद्ध-बुद्ध ग्रवस्था प्राप्त करनी है, उसके लिये

आपको तो यह 'कर्म विज्ञान' खूब पचाना चाहिये। इसके आधार पर समभाव के स्वामी बनना चाहिये—फिर, बस, ज्ञानानंद पराग के भोगी भ्रमर बन जाओगे। वहाँ समभाव खंडित होता लगे, फौरन कर्म विपाक के चिन्तन में प्रवेश करना।

ॐ ह्री अर्हं नम

२२. भवोद्वेग

यस्य गम्भीरमध्यस्याज्ञानवज्रमय तलम् ।
रुद्धा व्यसनशैलाघैं पन्थानो यत्र दुर्गमा ॥१॥

पाताल कलशा यत्र भृतास्तृष्णामहानिलै ।
कपायाश्चित्तसकल्पवेलावृद्धि वितन्वते ॥२॥

स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धन सदा ।
यो घोर रोगशोकादिमत्स्य कच्छप सकुल ॥३॥

दुर्बुद्धिमत्सर द्रोहै विद्युद् वर्ति गर्जितै ।
यत्र सायानिका लोका पतन्त्युत्पातसकटे ॥४॥

ज्ञानी तस्माद् भवाम्भोधेर्नित्योद्विग्नोऽति दारुणात् ।
तस्य सतरणोपाय सव यत्नेन काङ्क्षति ॥५॥

श्लोकार्थ

(१) गभीर है मध्य भाग जिसका ऐसा जिसका (ससार समुद्र का) अज्ञान रूपी वज्र से बना हुआ है पेंदा, जहा सकट रूपी पवत के समूह से घिरे हुए दुगम माग हैं।

(२) जहाँ (ससार समुद्र मे) तृष्णारूपी महान् वायु से भरे हुए पाताल कलश रूप चार कपाय (क्रोधादि) मन के सकल्प रूपी ज्वार को बढाते हैं।

(३) जहां मध्य मे सदा स्नेह रूपी ईंधन वाला कामरूपी वडवानल जलता है और जो भयकर रोग-शोकादि रूपी मछलियों और कछुओ से भरा हुआ है।

(४) दुर्बुद्धि, मत्सर और द्रोहरूपी बिजली, आंधी और गर्जना द्वारा जहा समुद्री यात्री तूफान रूपी संकट में फंसते है।

(५) उस भयकर ससार समुद्र से सदा भयभीत बने हुए ज्ञानी पुरुष उसे पार करने के उपाय सर्व प्रयत्नों से चाहते हैं।

श्लोक विवेचन

ससार !

जिस ससार पर अनेक जीव मोहित है, वह ससार कैसा है ? मोक्ष दशा को प्राप्त की हुई आत्माएं इस ससार को कैसा देख रहे है ? इस ससार को आप देखो, उद्वेग पैदा हो जाएगा। अप्रीति हो जाएगी ! और यही करना है न ? ससार की आसक्ति-ससार की प्रीति टूटे विना शाश्वत्-अनंत, अव्यावाध सुख मिल ही नहीं सकता ! यहा ससार का जो वास्तविक यथार्थ रूप वताया है, उसे देखो।

ससार को समुद्र समझो।

(१) संसार–समुद्र का मध्यभाग अगाध है।

(२) ससार–समुद्र का पेदा अज्ञानता रूपी वज्र से वना हुआ है।

(३) ससार–समुद्र मे सकटों के पर्वत छाए हुए है।

(४) ससार–समुद्र के मार्ग विषम-विकट है।

(५) ससार–समुद्र में विषयाभिलाषा की महान् वायु फू की जा रही है।

(६) ससार–समुद्र मे क्रोधादि कषायो के पाताल क्लेश है।

(७) ससार–समुद्र मे मन के विकल्पो का ज्वार आता है।

(८) ससार–समुद्र मे राग के ईंधन (पानी) वाला कदर्प का दावानल सुलग रहा है।

(९) ससार–समुद्र मे रोग की मछलिया और शोक के कछुए रहते हैं।

(१०) ससार–समुद्र पर दुर्बुद्धि की बिजली चमकती है।

(११) ससार–समुद्र पर मत्सर की आधिया आती हैं।

(१२) ससार–समुद्र मे द्रोह की भयकर गर्जनाए होती हैं।

(१३) ससार–समुद्र मे यात्री सकट मे फसते हैं।

(१४) अत ससार समुद्र दारुण है।

ससार-समुद्र —

'ससार सचमुच ही तूफानी सागर है,' इस विचार को हृदय मे पूर्ण पोषण मिलना चाहिये। सागर मे रहा हुआ मुसाफिर सागर को पार करने का ही प्रयत्न करता है उसमें सैर-सपाटे करने की इच्छा नही करता। इसमे भी तूफानी सागर को तो [illegible] भी वेग से पार करना चाहता है। 'मुझे ससार समुद्र से पार उतरना है' ऐसा सकल्प करना ही पड़ता है।

मध्य भाग —

समुद्र का मध्य भाग अगाध होता है न? इसके पट का [illegible] भी पता नही चलता। ससार का मध्य भाग है युवावस्था। यह अवस्था अगाध है। इसकी कोई थाह नही पा सकता। मनुष्य की युवावस्था की अगाधता का सूर्य की किरणें भी भेद नहीं सकती। जार पर गिरने वाले भी अगाधता मे खो जाते हैं। ढूंढने पर भी मिलते नहीं।

पेदा:—

इस संसार समुद्र का पदा कीचड-पत्थर या मिट्टी का वना हुआ नहीं, पर वज्र का वना हुआ है। अज्ञानता वज्र के समान है। अज्ञानता की नींव पर सारा ससार टिका हुआ है। अर्थात् ससार का मूल है अज्ञानता।

पर्वत:—

समुद्र में स्थल स्थल पर पानी में डूवे हुए, पानी मे आधे डूवे हुए पर्वत होते है। समुद्री यात्री इन पर्वतो से सावधान रहते हैं। संसार समुद्र मे तो ऐसे पर्वतो की शृ खलाएं होती हैं। संकटो की श्रेणिया आपने नही देखी ? एक-दो पर्वत नही, परन्तु शृ खलाएं। अरावली के पहाड़ो की शृ खलाएं आपने देखी है ? सह्याद्रि की श्रेणियां आपने देखी है। इनसे भी दुर्गम इन सकटो की श्रेणियां संसार-समुद्र में फैली हुई है। कई स्थानों पर तो ये पानी में डूवी हुई होती हैं। यदि आप ध्यान न रखे तो जहाज इन पर्वतों के साथ टकरा जाए और चूर चूर हो जाए।

मार्ग:—

ऐसे संसार समुद्र का मार्ग सरल हो सकता है क्या ? कितना विकट-विपम और दुर्गम मार्ग ! ऐसे मार्ग पर कितनी सावधानी, कितनी समझ और कितनी होशियारी से चलना चाहिये ? जरा भी असावधानी, आलस्य, निद्रा या विनोद चल सकता है भला ? किसी अनुभवी मार्गदर्शक का अनुसरण करना पड़े न ? अनुभवी मार्गदर्शक पर विश्वास करना पड़े या नही ?

महावायु:—

तृष्णा-पांचो इन्द्रियो के विषयों की अभिलाषा की प्रचंड वायु इस महासागर में वह रही है कितनी तृष्णा ! तृष्णा से

जीव कितने भटक रहे हैं ! तृष्णा से विषय सुखो की वासना से जीव कैसे घिस रहे हैं। जानते तो यह महावायु कहा से प्रकट होती है ? पाताल कलशो मे से !

पाताल कलश —

इस ससार सागर मे चार पाताल कलश हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कलशो मे से वह महावायु निकलती है और समुद्र मे तूफान पैदा करती है।

ज्वार —

मन के विकल्पो का ज्वार आता है इस ससार सागर मे ! कपायो मे से विषय तृष्णा जागृत होती है और विषय तृष्णा मे से मानसिक विकल्प पैदा होते हैं। मानसिक विकल्पो का ज्वार कितने गजब का होता है ! सारा सागर हिलोरो पर चढा हुआ दिखाई देता है ! समुद्र मे तो पूनम जैसे दिनो मे ही ज्वार आता है, परन्तु ससार सागर मे तो निरतर ज्वार आता ही रहता है। इस ज्वार मे ऊधम मचाता हुआ सागर आपने कभी देखा है क्या ? अब मानसिक विकल्पो का ज्वार देखना ! उससे घबरा जाओगे।

वडवानल —

कैसा दारुण वडवानल सुलग रहा है !

कदर्प के वडवानल मे ससार समुद्र का कौन सा मुसाफिर नही फँसा। कौन इस वडवानल की ज्वालाओ से बच सका है ? इस वडवानल मे राग के इधन फेंके जाते रहते हैं ! राग के इधन से सदैव वडवानल जलता रहता है।

वास्तव मे, कदर्प का वडवानल आश्चर्यजनक है ! दावानल मे जीव निर्भय होकर कूद पडते हैं ! जलने पर भी वे

वडवानल में से वाहर नही निकलते । इतना ही क्यो ? राग के इधन डाल-डाल कर वे वड़वानल को अधिक प्रदीप्त करते रहते हैं। कदर्प अर्थात् काम वासना। कंदर्प अर्थात् सभोग की वासना। पुरुप स्त्रियो के संभोग की वासना मे सुलगते है और स्त्रियां पुरुपों के संभोग की वासना में सुलगती है। नपुंसक स्त्री-पुरुप दोनों के भोग की अभिलापा में सुलगते है। यह ससार सागर का वडवानल वास्तव में सर्व भक्षी है। ससार मे रहे हुए अधिकाश मुसाफिर इस वडवानल मे फसे हुए दीखते है, जवकि अधिकतर मुसाफिर इस वडवानल की तरफ तीव्र गति से दौडते हुए दिखाई देते हैं।

मछलिया और कछुए :

ससार समुद्र मे वड़े-वडे मगरमच्छ और मछलिया भी है। रोग-छोटे वडे, साध्य-असाध्य, रोगो की मछलिया भी यात्रियो को परेशान करते है । कोई-कोई तो मगरमच्छ के चौड़े जवडे मे पूरे-पूरे उतरते दिखाई देते है—तो कोई इन मच्छो की पकड़ मे फसे हुए दिखाई देते है । इन मच्छो—रोगो से यात्री डरते है।

शोक-कछुए भी ससार सागर मे पड़े हुए है। वे भी यात्रियों को कम हैरान नही करते।

विजली :—

जरा आकाश की ओर देखो । विजलियो की गर्जनाएँ हो रही है। कैसी ये चमकती है ? कितनी निकट आ जाती है ? दुर्बुद्धि-गजव की विजली है····हिंसा की वुद्धि, झूठ-चोरी की वुद्धि, दुराचार-व्यभिचार की वुद्धि, माया—लोभ की वुद्धि—इन सभी विजलियो की चमक मे जीव चकाचौंध हो जाता है।

आधी

मत्सर की आधिया कैसी आती हैं ? गुणवान् पुरुषो पर रोष, उसका नाम मत्सर। ससार समुद्र पर ऐसी आधिया आती रहती हैं। देखी नही आपने ? नित्य की इन आधियो मे आप अभ्यस्त हो गए हैं अत शायद इनकी भयकरता आपको समझ मे न आए—परन्तु गुणवान् पुरुषो के प्रति क्रोध नही आता ? उस समय मन मे कैसे झझावात पैदा होते हैं ? इन आधियो मे जो फसा, उसका गुण—धन उड जाता है। गुणो से वह दूर-दूर हटता जाता है।

गर्जना —

द्रोह की गर्जनाएँ ससार समुद्र मे निरतर सुनाई देती रहती हैं। पिता पुत्र का द्रोह करता है, पुत्र पिता का द्रोह करता है। प्रजा राजा का द्रोह करती है, राजा—प्रजा का द्रोह करता है। पत्नी पति का द्रोह करती है, पति-पत्नी का द्रोह करता है। शिष्य गुरु का द्रोह करता है, गुरु शिष्य का द्रोह करता है। चारो ओर द्रोह की भीषण गर्जनाएँ हो रही हैं। अविश्वास और शकाओ के वातावरण मे ससार सागर के मुसाफिर व्याकुल हो रहे हैं।

समुद्री यात्री —

ससार सागर मे अनत आत्माएँ रही हुई हैं, परन्तु सागर की सतह पर जहाजो मे माल लादकर यात्रा करने वाले तो मात्र मनुष्य ही हैं। ये समुद्री यात्री बेचारे ससार सागर की भीषणता मे पिसे जाते है। सकट मे फसे हुए है। उनमे से अधिकाश यात्री तो पवनो के साथ टकरा कर समुद्र के पेंदे मे समाधि ले लेते हैं। कई आगे बढते हैं तो मध्य भाग मे आए हुए वडवानल मे जल कर राख हो जाते हैं। कुछ पर बिजली

गिर पड़ती है—कई आंधी में अपना सर्वस्व खो वैठते है। वहुत की कम जीव, जिन्हे इस भयंकर भवसागर का यथार्थ ज्ञान है और जो इन ज्ञानी जनों का अनुसरण करते हैं, वे ही इस भव सागर से पार उतर पाते है।

ज्ञानी पुरुष इन संसार सागर को अति दारुण समझते हैं। इसलिये जहां तक वे इस संसार सागर में होते हैं तव तक वडे ही उद्विग्न रहते है! संसार सागर के किसी भी सुख में वे मुग्ध नहीं होते। उनका तो एक ही लक्ष्य-शीघ्र भव सागर से पार उतरना। उनका सारा प्रयत्न भव सागर से पार उतरने का होता है। मन, वचन और काया से वे संतरण हेतु ही प्रयत्नशील होते है।

इतना आत्म साक्षी से तो सोचो। भव सागर में ठहरने योग्य, रहने योग्य क्या है? कही भी सरल मार्ग है क्या? कही भी निर्भयता है? कहीं भी अशान्ति रहित सुख है? फिर किस प्रकार संसार सागर में रहने का विचार होता है? जहाँ स्वस्थता नही, प्रसन्नता नही, शान्ति से श्वास लेना कठिन है, निर्भयता का वातावरण नही, वहाँ रहने का विचार भी कम्पित कर डालता है। जिस समय हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ तव पाकिस्तान में रहे हुए हिन्दुओं का जीवन कैसा था? लाखो हिन्दू वहां से हिन्दुस्तान में भाग आए। घर, वंगले, हवेलियां-सव वही छोड़कर भाग आए। लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति को छोड़कर भाग आए। स्त्री-पुरुप, परिवार की परवाह किए विना चले आए। उन्हे वहां निर्भयता न लगी। शान्ति का श्वास लेने की भी आशा न रही। जीवन खतरे मे लगा—और वे भाग आए।

भव सागर से भाग छूटने की तमन्ना जागृत हो जाय, फिर माया-ममता के बधन काटना आसान हो जाएगा। इसीलिये यहा भवसागर की भीषणता बताई गई है, उसे शात और एकात स्थान मे एकाग्र बनकर सोचना, नित्य प्रतिदिन सोचना। जब आत्मा म भव सागर का भय पैदा हो जाएगा, तब उसे पार करने के लिये आप मन, वचन और काया से तैयार हो जाएँगे और तब आपको कोई नही रोक सकेगा।

तैलपात्रधरो यद्वत् राधावेधोद्यतो यथा।
क्रियास्वनन्यचित्त स्याद् भवभीतस्तथामुनि ॥६॥

श्लोकार्थ

जैसे तेल के पात्र का धारण करने वाला, और जैसे राधा-वेध साधने मे तत्पर-उस क्रिया मे अनन्य चित्त वाला होता है, उसी प्रकार ससार से भय प्राप्त साधु चारित्र्य क्रिया मे एकाग्र चित्त वाला होता है।

श्लोक विवेचन

वह मानता था कि 'मन कभी भी वश मे नही होता'।

बस 'मन की चचलता का वर्णन करता हुआ वह नगर मे भ्रमण करता है। सब के साथ विवाद करता है। साधुओ से भी चर्चा करता है। मन की स्थिरता को वह मानता ही नही।

राजा को पता चला।

राजा तत्त्वज्ञानी था। मन को वश मे करने के उपाय जानता था। उसको शिक्षा देने का निश्चय किया।

एक दिन वह राजा के चक्कर मे आ गया। राजा ने उसे फाँसी की सजा दी।

अस्थियाँ सिहर उठीं। मृत्यु की कल्पना ने उसे कम्पित कर दिया। वह राजा के पांव पकड़ कर रोने लगा "मुझे फांसी न लगाओ"। राजा ने कहा. अपराधी को दड देना मेरा कर्तव्य है।

उसने कहा: राजा सजा करता है वैसे ही क्षमा भी करता है।

राजा ने दया दिखाते हुए कहा : एक शर्त मानता हो तो सजा माफ कर दूं।

उसने स्वीकार किया।

राजा ने कहा-तेल से भरा हुआ-पूरा भरा हुआ पात्र लेकर सभी बाजारों में घूमकर यहाँ आना होगा। तेल की एक बूंद भी गिरनी न चाहिये। यदि बूद गिरेगी तो फांसी माफ नही होगी। बोलो है स्वीकार ?

उसने सहमति प्रकट की। राजा के निरीक्षकों के साथ वह घर गया। राजा ने बाजार में स्थान २ पर नाटको का आयोजन करवा दिया। सभी दुकानदारो को दुकाने सजाने की आज्ञा दी। यत्र तत्र सर्वत्र सुन्दर वस्त्रधारी रूपसी स्त्रिया खडी.कर दी।

वह व्यक्ति तेल से लबालब पात्र लेकर घर से निकला।

निरीक्षक साथ ही चले।

बाजारो मे से गुजरता है, परन्तु वह तेल वाला व्यक्ति कही भी आड़ा-टेढ़ा देखता नही। दुकानो की शोभा देखने में उसका मन दौड़ता नही। नाटक देखने में उसका मन लालायित नही होता। स्त्रियो के रूप देखने मे उसका मन ललचाता नही। उसकी दृष्टि तो अपने तेल-पात्र पर ही है।

मभी वाजारो मे घूमकर वह राजमहल में आया।

राजा ने पूछा तेल की बूंदें रास्ते मे गिरी ?

'नही'।

निरीक्षको ने साक्षी दी कि एक भी बूँद न गिरी।

राजा बोला यह हो ही नही सकता। मन चचल है, वह इधर उधर देखे बिना रहता नही और इधर उधर देखा कि तेल पात्र छलके बिना रहे नही।

वह कहता है राजन्! सच कहता हू मेरा मन तेल-पात्र के सिवाय कही भी नहीं गया—कोई भी दूसरा विचार मन मे प्रविष्ट नही हुआ।

'तो क्या मन एक वस्तु मे एकाग्र रह सकता है ?'

'हा नाथ! सिर पर फासी का भय मडराता हो, फिर एकाग्र क्यो नही रह सकता' ?

'तो फिर जो साधु पुरुष, साधक-निरन्तर मृत्यु के भय को सामने देखते हो उनका मन चारित्र्य मे स्थिर रहेगा या नही ?'

वह तब से मन की स्थिरता का उपाय समझ गया। ससार के अनत जन्म मरण के भय से मुनि अपनी चारित्र्य क्रियाओ मे एकाग्र चित्त वाला होता है। ससार का भय चाहिये।

राधावेध करने वाला कैसी एकाग्रता साधता है ? नीचे कुड मे देखना, ऊपर खभे के शिखर पर पुतली फिरती है, उसकी छाया पानी मे गिरती है, उस छाया को देखकर ऊपर रही हुई पुतली की एक आख बीधना है। पुतली भी फिरती हुई। कैसी एकाग्रता चाहिये। राजकन्याओ के साथ शादी करने की उत्कठा

वाला वीर पुरुष पूर्वकाल में ऐसे रावावेव करता था। श्री जिनेश्वर-अरिहंत परमात्मा ने शिव सुंदरी का वरण करने हेतु ऐसी एकाग्रता का आराधना में पोषण करने का उपदेश दिया है। एकाग्र बने विना संयम आत्मसात् नहीं होता।

विपं विपस्य वह्नेश्च वह्निरेव यदौपधम्।
तत्सत्य भवभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भीः ॥७॥

श्लोकार्थ

विप की औपधि विप है और अग्नि की औपधि अग्नि है, यह सच्ची वात है। ससार से भयभीत व्यक्ति को उपसर्ग होने पर भी भय नही होता।

श्लोक विवेचन

यह कहावत सच्ची है।

'विप की औपधि विप, अग्नि की औपधि अग्नि।'

विप अर्थात् जहर। जहर का भय दूर करने के लिये जहर की दवा देने मे भय नही लगता। उसी प्रकार अग्नि का भय दूर करने के लिये अग्नि की औपधि देने में भय नही लगता; तो फिर संसार का भय दूर करने के लिये उपसर्गो की औपधि का सेवन करने में भय क्यो लगने लगा?

अर्थात् वीर, वीर मुनि भगवन् उपसर्गो का सामना करने के लिये आगे वढते है। भगवान महावीर श्रमण अवस्था में उपसर्गो को सहन करने के लिये अनार्य देश में गये थे। उन्हे कर्मो का भय दूर करना था। शिकारी कुत्तों के उपसर्ग सहन किये। अनार्य पुरुषों के प्रहार सहन किये। ऐसे तो कई उपसर्ग उन्होंने सहन किये पर भयभीत नही हुए। औपधि के सेवन में भय किस वात का?

रोग का भय दूर करने के लिये लोग क्या बम्बई कलकत्ता नही जाते ? वहा डाक्टर आपरेशन करते है ,चाकू से पेट चीरते हैं, पाँव काटते हैं आखे खोल डालते है फिर भी दर्दी को भय नही लगता। आगे बढकर शरीर मे चीरा लगवाता है क्योकि उसमे उसे रोग का निवारण लगता है।

फिर खधक मुनि अपने शरीर पर से चमडी उतारते राज सेवकों पर रोष किस बात का करे ? उन्हे तो वह आपरेशन लगा। इस आपरेशन से उन्हे भय का निवारण लगा।

अवति सुकुमाल ने शरीर को सियारनी के हाथो तथा मुह से चबाया जाने दिया सियारनी को शरीर का मास खाने दिया, रक्त पीने दिया मेतारज मुनि ने सोनी को चमडे की सिगडी अपने सिर पर बाधने दिया क्योकि यह भय उनके ससार का भय का निवारण करता था।

भगवान महावीर ने ग्वाले को अपने कानो मे कीलें ठोकने दिया सगम को काल चक्र छोडने दिया पावो मे खीर पकाने दिया क्योकि यह भय उनके भव रोग के भय का नाश करता था ।

भगवान ने मुनियो को उपसर्ग सहन करने का उपदेश दिया वह क्यो ? मुनि जिस ससार भय को दूर करने के लिए साधना करते है उस ससार भय का उपसर्गों मे आपरेशन हो जाय। ससार भय दूर हो जाता है। आपरेशन करने वाले डाक्टर पर दर्दी को क्रोध नही आता। वह तो उसे उपकारी लगता है। इसीलिए सधक मुनि को राज सेवक उपकारी लगे अवतिसुकुमाल को सियारनी उपकारी लगी और मेतारज मुनि को सोनी उपकारी लगा।

हां, यदि आपरेशन कर्ता डाक्टर दर्दी को दुष्ट लगे, अनुपकारी लगे और वह चीखने चिल्लाने लगे तो आपरेशन विगड जाता है। उसी प्रकार उपसर्ग के समय यदि उपसर्ग कर्ता दुष्ट लगे तो मन की समता टूट जाती है और ससार का भय वढ जाता है। खंधक सूरी जी को पालक 'डाक्टर' न लगा परन्तु दुष्ट पुरुप लगा तो ससार का भय दूर नही हुआ। उनके शिष्यो के लिए 'पालक' सहायक वन गया।

उपसर्ग समता भाव से सहन करने होते हैं। उससे भवरोग फौरन दूर होता है। इरादापूर्वक उपसर्ग हमें सहन न करने चाहिये परन्तु सिर पर आये हुए उपसर्ग सहर्प समतापूर्वक सहन कर ले तो भी काम हो जाता है।

छोटा सा वच्चा ऑपरेशन हॉल में जाते हुए डरता है। हाथ में छुरी लेकर खडे हुए वुर्खेधारी डाक्टरों को देखकर चीख उठता है, कारण? उसे अपने रोग को भयकरता समझ में नही आती। वह डाक्टर को रोग निवारक नही समझता। इसी प्रकार जो जीव वालक जैसी अविकसित वुद्धि वाले होते है वे उपसर्ग की परछाई मात्र देखने से ही चीख उठते है। उपसर्ग की उपकारिता को वे समझ नही सकते।

तात्पर्य यह है कि उपसर्ग सहर्प सहन करने चाहिये। उसी से भव का भय दूर होगा।

स्थैर्य भवभयादेव व्यवहारे मुनिर्व्रजेत्।
स्वात्मारामसमाधौ तु तदान्तर्निमज्जति ॥८॥

श्लोकार्थ

व्यवहार नय से संसार के भय से सावु स्थिरता को पाता है, परन्तु अपनी आत्मा की रतिरूप समाधि में तो भय भी अन्दर ही विलीन हो जाता है।

श्लोक विवेचन

संसार का भय।

क्या संसार का भय मुनि को रखना चाहिये?

वह भय मुनि की चारित्र्य स्थिरता में कारण है क्या?

हां, चार गति के परिभ्रमण रूप संसार का भय मुनि को चाहिये। तभी वह चारित्र्य में स्थिर बन सकता है। "मुझे संसार की नरक, तिर्यंच आदि गतियों में भटकना पड़ेगा, यदि मैं चारित्र्य की आराधना में प्रमादी हुआ तो" यह विचार मुनि के मस्तिष्क में घूमना चाहिये। यह विचार उसे—

★ इच्छाकारादि[1] सामाचारी में अप्रमत्त रखता है।
★ क्षमादि[2] दसविध यतिधर्म में उत्साही रखता है।
★ [3]निर्दोष भिक्षाचर्या में जाग्रत रखता है।
★ महाव्रतों के पालन में अतिचार मुक्त बनाता है।
★ समिति गुप्ति के पालन में उपयोगशील बनाता है।
★ आत्म रक्षा, संयम रक्षा और प्रवचन रक्षा में उद्यमी बनाता है।

संसार के भय से प्राप्त होती संयमपालन की अप्रमत्तता उपादेय है। "मुझे संसार में भटकना पड़ेगा"—ऐसा भय आर्तध्यान नहीं परन्तु धर्म ध्यान है।

हां, जब मुनि आत्मा की निर्विकल्प समाधि में लीन होता है, तब वह संसार भय उस समाधि में अपने अस्तित्व का विलीन कर डालता है, अलग अस्तित्व नहीं रखता। वह मोक्ष और संसार में निःस्पृह होता है—मोक्ष प्राप्ति का विचार नहीं, संसारभय की व्याकुलता नहीं।

१, २, ३ देखें परिशिष्ट।

'मोक्षे भवे च सर्वत्र नि स्पृहो मुनिसत्तम:'

जव ऐसी आत्म समाधि—निर्विकल्प—किसी प्रकार का मानसिक विचार नही, प्राप्त होती है तव ससार का भय नही रहता; ऐसी आत्मदशा प्राप्त न हो तव तक संसार का भय होना ही चाहिये। मुनि को भी यह भय रखना चाहिये।

मुनि ने मुनिपन ग्रहण किया, इतने मात्र से उसने दुर्गति पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा मुनि को नही मानना चाहिये, असावधान न होना चाहिये। यदि मुनि भवभ्रमण के भय को छोड़ दे तो

★ शास्त्र स्वाध्याय मे प्रमाद करेगा।

★ विकथाओं (स्त्री–भोजन–देश–राजकथा) मे फस जायेगा।

★ दोपयुक्त भिक्षा लाएगा।

★ कदम २ पर रागद्वेप करेगा।

★ महाव्रतों के पालन मे अतिचार लगाएगा।

★ समिति-गुप्ति का पालन नही करेगा।

★ मान-सम्मान और कीर्ति की चाह में पडेगा।

★ जन रजन हेतु प्रयत्न करेगा।

★ संयम क्रियाओं में शिथिल वनेगा।

अनेक अनिष्टों का भोग वनकर भव के भीपरग भय मे जा गिरेगा। अत: भव का भय दुर्गति पतन का भय मुनि को रखना ही चाहिये।

यहां तो पूज्य उपाध्यायजी ने संसार को समुद्र की ही एक उपमा दी है, परन्तु 'अध्यात्मसार' मे तो उन्होने ससार को

अनेक उपमाए दी हैं। ससार वन है, कारावास है, श्मशान है, कुआ है, आदि। भवस्वरूप का चितन इस प्रकार अनेक तरह से करने का वे कहते हैं। भव की असारता समझाए विना भव के वैषयिक सुखो की आसक्ति नही टूटती, भव का राग टूटे विना भव के बन्धन तोडने का महान् पुरुषार्थ नहीं होता।

परन्तु उसके लिए भवस्वरूप के चितन मे डूब जाना पडता है। तन्मय वन जाना पडता है। भवसागर के तट पर जाकर इस सागर की भयकरता को देखना। भव श्मशान के एक कोने में खडे रहकर इस श्मशान की रौद्रता को देखना। भव कारागार की सीकचो के पास खडे रहकर कारागार की वेदनाओं को देखना। भव कूप के तट पर खडे रहकर कुए की भयानकता देखना। आप चौक उठेंगे। आपके अग २ मे पसीना छूट पडेगा। आप थर-थर काप उठेंगे। 'श्री अरिहत श्री वीतराग' करते २ इन अनत कृपानिधि की शरण में जाएगे।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२३. लोकसंज्ञा त्याग

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ।
लोके संज्ञारतो न स्यान्मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥१॥

श्लोकार्थ

संसार रूपी विषम पर्वत का उलंघन है जिसमे ऐसे छठे गुणस्थानक को प्राप्त हुआ, लोकोत्तर मार्ग में स्थिति जिसकी है ऐसा साधु लोकसंज्ञा में प्रीति वाला नही होता ।

श्लोक विवेचन

मुनिराज ! आप कौन है ?

यदि आप अपने व्यक्तित्व को सम्हालेंगे तो फिर 'लोकसंज्ञा' मे आपको प्रीति नही होगी । देखिये ! यहा आपकी उच्च आत्म-स्थिति बताई गई है ।

(१) आप छठे गुण स्थानक में है ।

(२) लोकोत्तर मार्ग में रहे हुए है ।

'मै छठे गुणस्थानक में रहा हुआ हूँ'—यह बात सदैव स्मृतिपट पर अंकित रहनी चाहिये । मैने प्रथम पांच गुण-स्थानक पार कर लिये हैं अतः अब मैं कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की

श्रोर श्रद्धा की दृष्टि से देख भी नही सकता, मैं दही-दूध भी नही हो सकता—मैं मिश्रगुणस्थानक मे नही। जिनोक्त तत्त्व ही सच्चे—ऐसी मेरी दृढ मान्यता होनी चाहिये। मै गृहस्थ नही—अर्थात् गृहस्थ जैसा मेरा आचरण नही होना चाहिए। मैं अणुव्रती नही परन्तु महाव्रती हूँ। बारह व्रतधारी श्रावक भी पापो को त्रिविध-त्रिविध रूप से त्याग कर सकता नही, जबकि मैंने सभी पापों को त्रिविध त्रिविध रूप से (मन-वचन-काया से करना-करवाना और अनुमोदन करना) त्याग दिया है। मेरे लिये ऐसे महात्माओ का सपर्क ही हितकारी है जिन्होने मेरी तरह सभी पापों का त्रिविध २ रूप से त्याग कर दिया है। पापो के त्याग के साथ मैंने सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य की आराधना करने की देव-गुरु और सघ की साक्षी मे आत्मा की अनुभूति से प्रतिज्ञा की है अत मुझे ऐसी ही आत्माओ का सहवास पसन्द करना चाहिए जो कि सम्यग् ज्ञान-दशन और चारित्र्य की आराधना मे ओतप्रोत हो'।

महामुनि आपको इस प्रकार सोचना चाहिये, तभी आप लोग पापों मे आसक्त और मिथ्या कल्पनाओ मे मस्त जीवो के सहवास से, परिचय से और उन्हे खुश रखने की वृत्ति से बचेंगे।

'मैं लोकमार्ग मे रहा हुआ नही, मैं तो लोकोत्तर मार्ग पर चल रहा हूँ। लोक का मार्ग भिन्न, लोकोत्तर जिन मार्ग भिन्न। लोक मार्ग मिथ्या धारणाओ पर चलता है। लोकोत्तर मार्ग केवलज्ञानी वीतराग भगवन्त का बताया हुआ निर्भय मार्ग है। लोकोत्तर मार्ग को छोडकर मुझे लौकिक मार्ग पर नही जाना चाहिए। मेरा लोगो के साथ कोई सम्बन्ध नही। लौकिक

मार्ग में रहे हुओं के साथ मेरे सभी सम्वन्धो का मैंने विच्छेद किया है। उनके सहवास में आना नहीं। वे कहे वैसे मुझे करना नही। उनके आदर्श, उनकी कल्पनाएँ, उनकी मान्यताएं भिन्न, मेरे आदर्श भिन्न, मेरी कल्पना सृष्टि भिन्न, मेरी मान्यताएँ भिन्न, मैं जिनमार्ग का अनुसरण करूँगा, लोकमार्ग का नही। प्रत्येक प्रसग या घटना मे मैं जिनेश्वर को ही खुश करने का प्रयत्न करूँगा, लोक को खुश करने का नही। लोगों को खुश करने का मेरा कोई प्रयोजन भी तो नही।

'ससार के विपम पहाड़ को पार कर मैं छठे गुणस्थानक पर पहुंच गया हूँ। मैं लोकोत्तर मार्ग मे रहा हुआ हूँ, मुझ से लोक सज्ञा में प्रीति कैसे की जाए? लोकसंज्ञा में पुनः इस ससार के विपम पर्वत पर चढ़ना होता है। अनेक मानसिक विपमताएँ इस लोकमार्ग मे आँधी की भांति घेर डालती है। मैं तो लोकोत्तर मार्ग के आदर्शो का अनुकरण करूँगा। अपने मन-वचन--और अपनी काया को इन आदर्शो के पीछे खर्च कर डालूंगा। लोगों की तरफ देखने का मेरा कोई प्रयोजन ही नही। लोग वैषयिक सुखों मे मस्त होते हैं, मुझे तो पूर्ण निष्काम वनना है। लोग जड़ सपत्ति के वैभव से अपनी महत्ता आंकते है, मुझे तो अंतरंगज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की सपत्ति से, आत्मा की उन्नति करनी है। लोग वहिर्दृष्टि है, मुझे तो ज्ञानदृष्टि का विकास साधना है। लोग अज्ञान की ओर दौडे जा रहे है, मुझे केवलज्ञान की ओर आगे वढना है। लोगों के साथ मेरा मेल ही कहाँ से वैठ सकता है? अत मैं तो अपना छठा गुणस्थानक अधिक स्थिर करूँगा। हाँ, सातवें, आठवे.... आगे से आगे के गुणस्थानकों तक पहुंचने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु पीछे हटने की मेरी इच्छा नही। लोकसंज्ञा में मैं अपना पतन होने नही दूंगा।'

यथा चिन्तामणिं दत्ते वठरो वदरीफलं ।
हहा जहाति सद्धर्मं तथैव जनरञ्जनैः ॥२॥

श्लोकार्थ

जैसे मूर्ख बेर के मूल्य मे चिन्तामणि रत्न देता है, उसी प्रकार मूर्ख अरे ! लोकरंजन करके सद्धर्म का त्याग करता है।

श्लोक विवेचन

एक मूर्ख था ग्वाला।

जगल मे नित्य ढोर चराने जाता था।

एक दिन उसे चिंतामणि रत्न मिल गया, उसे यह पत्थर बहुत प्रिय लगा। उसने अपनी बकरी के गले मे उसे बाध दिया। साथ ढोर चराकर ग्वाला गाव मे लौटा। गाव के किनारे बेर बिकते थे। बेर देखकर ग्वाले के मुँह मे पानी आ गया।

बेर वाली ! मुझे बेर दे।'

'मुफ्त नहीं मिलते।'

ग्वाले के पास पैसे न थे। उसने बकरी के गले मे बधा हुआ चिन्तामणि रत्न देखा। बेर बेचने वाली को रत्न देकर बेर खरीदे। बेर वाली ने चिन्तामणि रत्न देखा। उसने पहिचाना नहीं। उधर से एक जवेहरी सेठ निकल रहे थे। चिन्तामणि रत्न को उन्होंने पहिचाना, कुछ पैसे देकर सेठ ने रत्न खरीद लिया।

धर्म देकर लोक प्रशसा खरीदने वाले उस ग्वाले जैसे ही न ? धर्म चिन्तामणि रत्न से भी बढकर है। यह अचिन्त्य चिन्तामणि है। मनुष्य के मन मे जिसका विचार तक न आ सके ऐसी दिव्य और अपूर्व भेंट सद्धर्म—चिन्तामणि देता है। इस सद्धर्म को लोक प्रशसा-लोक रजन हेतु देने वाला ग्वाले से भी अधिक मूर्ख है।

तेरे पास सद्धर्म है, यह अचिन्त्य चिन्तामणि है, यह तुझे पता है क्या ? सद्धर्म को तू क्या समझ वैठा है ? जिस सद्धर्म से आत्मा की अनत संपत्ति प्राप्त की जा सकती है, उस सद्धर्म को तू लोक प्रशंसा हेतु वेच रहा है ? लोग भले ही तुझे तपस्वी कहे विद्वान् कहे, ब्रह्मचारी कहे, परोपकारी कहे, वुद्धिशाली कहे, परन्तु ज्ञानी सज्जन पुरुषो की दृष्टि मे तू वास्तव मे मूर्ख है। तूने धर्म का उपयोग लोक प्रशंसा प्राप्त करने मे किया यही तेरी मूर्खता है।

अरे, मूर्खता की कोई सीमा भी है ? किसी को तू सद्धर्म द्वारा लोक प्रशंसा प्राप्त करता हुआ देखता है, तुझे वह महान् लगता है और अपने आप को तू हल्का-निम्न समझता है। तुझे भी लोक प्रशसा और लोगों के अभिनंदन पाने की महत्वा-कांक्षा होती है सद्धर्म की प्राप्ति, सद्धर्म की आराधना से तुझे सतोष आनंद या तृप्ति नही होती।

तू तपस्या करता है ? तप सद्धर्म है। इस तपश्चर्या द्वारा तू लोक-प्रशसा तो नही चाहता न ? तू स्वय तप की घोषणा द्वारा 'लोग मेरी प्रशंसा करे………'ऐसी चाह तो नही रखता न ? तू दान देता है ? दान सद्धर्म है। तू दान द्वारा अपनी प्रशसा-लोक प्रशसा प्राप्त करने के लिये व्याकुल तो नही है न ? दान देने मात्र से प्रसन्न होता है ? नही, दान से दूसरे लोग प्रशसा करें तभी प्रसन्नता होतो है न ?

ज्ञान प्राप्ति से आनन्द आता है ? या दूसरे तुझे 'ज्ञानी विद्वान्' कहें तभी आनन्द आता है ?

ब्रह्मचर्य का पालन करने से प्रसन्नता मिलती है ! या दूसरे जव तुझे 'ब्रह्मचारी' कहते है तभी आनंद आता है ?

सद्धर्म के माध्यम से तू लोक प्रशसा प्राप्त करना चाहता है तो तू चितामणि रत्न देकर वेर खरीदने वाले मूर्ख ग्वाले की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली कैसे ? हाँ तू सद्धर्म द्वारा लोक प्रशसा प्राप्त करना चाहता नही, परन्तु तेरा पुण्य कम ऐसा है कि लोग तेरी प्रशसा किए बिना रह सकते नही, तो इसमे तू गुनेहगार नही बनता। परन्तु तुझे यह आदर्श तो रखना हो चाहिये कि 'यह प्रशसा पुण्य जन्य है, इसमे प्रसन्न होने की आवश्यकता नही, क्यो कि पुण्य की समाप्ति होते ही प्रशसक ही निंदक बन जाएँगे। यदि प्रशसा मे खुशी हुई है तो निंदा मे दुख होगा ही।

आप सद्धर्म की आराधना करते हैं, आप को लोक प्रशसा नही मिलती, इससे आप निराशा न हो। सद्धर्म का फल लोक प्रशसा नही। लोगो के पास अपने सद्धर्म की कद्र करवाने की भावना न रक्खें। सद्धर्म की आराधना द्वारा आपको अपनी आत्मा को निस्पृह बनाना है। कर्म के बधन तोडने हैं। आत्मा को परमात्मा बनाना है। लोक प्रशसा के व्यामोह मे यदि फँसे तो आपके इन भव्य आदर्शो की तत्काल कब्र खुदेगी, अत खूब सावधान होकर सद्धर्म की आराधना कर।

लोक सज्ञा महानद्यामनुस्रोतोऽनुगा न के।
प्रतिस्रोतोऽनुगस्त्वेको राज हसो महामुनि ॥३॥

श्लोकार्थ

लोक सज्ञा रूपी बडी नदी मे लोक प्रवाह का अनुसरण करने वाले कौन नहीं ? प्रवाह-विरुद्ध चलने वाले राजहस जैसे एक मुनीश्वर हैं।

श्लोक विवेचन

एक बड़ी नदी है—

गंगा-यमुना-नर्बदा और महा नदी से भी वडी।

जिस दिशा में ये महा नदियां बहती हैं, उस प्रवाह में अनुकूल दिशा में वे सही वहते है, सभी यात्रा करते है, परन्तु प्रतिकूल दिशा मे सभी यात्रा नही कर सकते। प्रचंड प्रवाह के सामने तैरना सवके वस की बात नही।

लोक सज्ञा-महानदी के लोक प्रवाह में तैरना, यात्रा करना इसमे कोई विशेषता नही। खाना-पीना, पहिनना-ओढ़ना, विकथाएँ करना, परिग्रह एकत्रित करना, भोग सुख भोगना, वँगले वनाना और मोटरे जुटाना; स्त्री-पुत्र परिवार को अपना मानना—शरीर को स्वच्छ रखना, वस्त्र और अलकार धारण करना, यह सव कुछ सहज-स्वाभाविक है। इसमें जरा भी आश्चर्य नही।

अज्ञान, मोह और द्वेष मे फंसी हुई दुनिया के समझदार माने जाते लोग लौकिक आदर्शो, छिछली मान्यताओ और विवेकहीन आचरण को लिये फिरते है। मुनियों को इन आदर्शो, मान्यताओ मे फंसना नही चाहिये।

लोक प्रवाह की कई आधुनिक मान्यताएँ ऐसी है :—

(१) साधुओं को समाज की सेवा करनी चाहिये। चिकित्सालय वनवाने चाहिये, स्कूले खुलवानी चाहिये…… आदि।

(२) साधुओ को गदे-मैले वस्त्र न पहिनने चाहिये, परन्तु स्वच्छ तथा वढिया वस्त्र पहिनने चाहिये ।

(३) साधुओ को धर्म के प्रचार हेतु मोटर, ट्रेन, एरोप्लेन, समुद्री जहाज आदि मे बैठकर देश विदेश मे घूमना चाहिये ।

(४) साधुओ को 'लाउड स्पीकर' का उपयोग करना चाहिये ।

(५) साधुओ को अधिक प्रतिज्ञाएँ नही देनी चाहिये ।

(६) साधुओ को चाहिये कि वे अधिक दीक्षाएँ न दें ।

(७) साधुओ को चाहिये कि वे छोटे-छोटे वच्चो को दीक्षाएँ न दें ।

यह सब लोक प्रवाह है । यदि आत्मा जाग्रत न हो और ज्ञान दृष्टि खुली न हो तो इस वात मे साधु आकर्षित हुए विना नही रहे । शिष्ट और सदाचारी समाज रचना का ध्वस करने हेतु भी ऐसे ही लोक प्रवाहो का वोलवाला हो रहा है । सुशिक्षित के नाम पर, युग के नाम पर, सुधार के नाम पर कितनी गदी, वीभत्स और समाज को वरवाद करने वाली वातें चल पडी हैं ।

(१) जन सख्या वढ गई है, अनाज नही मिलता, अत सतति नियमन करो, अधिक वच्चे पैदा न हों, इसके लिये ओपरेशन करवा डालो, लूप लगवाओ ' ऐसा राष्ट्रव्यापी प्रचार कर मनुष्य को दुराचारी व्यभिचारी वनाने की योजना चली । लोक प्रवाह मे वहने वाले इसमे फसते हैं ।

(२) विधवाओ को पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता चाहिये ।

(३) लडके-लडकियाँ साथ पढे -इसमे क्या आपत्ति ?

(४) सिनेमा देखने से मनोरंजन होता है ।

(५) संसार में रहकर भी धर्म होता है, मोक्ष प्राप्ति होती है ।

ये सभी मान्यताएँ लोक संज्ञा में आती है ! मुनि इन सभी मान्यताओं के प्रवाह में वहें नही परन्तु इनसे विपरीत प्रवाह में ही चले । निडरता पूर्वक चले.......वे ऐसी वातों में लोगों की परवाह न करें । वे तो जिनेश्वर भगवान् द्वारा वताये हुए मोक्षमार्ग का ही अनुसरण करे । भगवान् के कथन की अपेक्षा अपनी वुद्धि को कभी भी अधिक महत्व न दें । उन्हें तो चाहिये कि लोक प्रवाह में खड़े रहकर लोगों की अज्ञानता को दूर करे, मोह को दूर करें । उन्हें सत्य मोक्षमार्ग वताने में निरन्तर पुरुषार्थ करे ।

मुनि तो राजहंस होते हैं । वे तो मोती ही चुगते है । घास वे नहीं खाते । कीचड़ में वे मुँह नहीं डालते । कीचड़ में मुँह डालते हुए और घास खाते हुए जीवों के प्रति उनके हृदय में करुणा उमड़ती है । उन्हे उसमें से मुक्त करने हेतु वे प्रयत्न करते है, उनके साथ नही बैठ जाते ।

अज्ञानी जीवों की वातें सुनकर फौरन उनमें माथा मारने की कुटेव छोड़ देनी चाहिये उससे मुनि जीवन की मर्यादा में टिक सकेंगे और मोक्षमार्ग की आराधना में आगे बढ सकेंगे । लोक संज्ञा का त्याग करने के लिये निःस्पृहता, निडरता और निर्भयता आवश्यक है । इन सब के मूल में ज्ञानदृष्टि चाहिये ।

लोकमालम्ब्य कर्तव्यं कृतं वहुभिरेव चेत् ।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्यः स्यात् कदाचन ।।४।।

श्लोकार्थ

लोकावलवन से यदि अधिक मनुष्यो के द्वारा किया हुआ ही करने योग्य हो तो मिथ्या दृष्टियो का धर्म कभी भी त्याज्य नही हो सकता।

श्लोक विवेचन

जिनकी दृष्टि स्वच्छ न हो,

जिनकी दृष्टि निराग्रही न हो।

जिनके पास 'केवल ज्ञान' का प्रकाश न हो,

जिनके राग और द्वेष दूर न हुए हो, ऐसे जीवो ने अपनी बुद्धि के बल पर, थोडे से भक्तो के बल पर और थोडी साधना के प्रताप से मत चलाए हैं—इन मतो को 'मिथ्यामत' कहते है। मिथ्यादृष्टि मे विश्व के वास्तविक तत्वो का दर्शन नही होता सब कुछ उल्टा और वक्र दीखता है फिर भी उसे मानते हैं सीधा और सरल। विश्व मे ऐसे अनेक मत है और ऐसे मतो के मानने वाले भी अनेक होते हैं।

'बहुमत जिसे मानता हो वह मत सच्चा' ऐसी मान्यता भी गलत है। सच्चे मत के मानने वाले दुनिया मे अधिक लोग नही होते, थोडे ही होते हैं। इतना ही नही, असत्य और अवास्तविक मत का अनुसरण करने वालो की सख्या अधिक ही होती है। सत्य और वास्तविक मार्ग का अनुसरण करने की शक्ति दुनिया में बहुत ही कम लोगो मे होती है।

अब यदि यह मान लिया जाए कि जिसे अधिकाश लोग करें वही हम भी करें 'तो ऐसा करना सत्यपूर्ण होगा या असत्यपूर्ण ? 'दुनिया के बडे भाग के जीवो को क्या प्रिय है ? दुनिया के बडे वर्ग की अभिरुचि क्या है ?' यह देखकर जो

धर्म के सिद्धान्तों या मतों को चलाते है, वे सच्चे हो ही नहीं सकते। दुनिया के जीवों को भोग प्रिय लगता है। दुनिया के जीवो को हिंसा, झूंठ, चोरी, दुराचार, व्यभिचार और परिग्रह प्रिय लगता है! दुनिया के जीवों को अच्छा सुनना, रूप देखना, रसास्वादन करना, सुगंध मे मस्त वनना, तथा कोमल स्पर्श प्रिय लगता है। वस, उसे जो प्रिय लगता है वह करने देकर आप कोई भी धर्म जाल उन पर विछा दो। वह धर्म जगत् के अधिकांश जीव पसद करेंगे पर ऐसा धर्म आत्मा का कल्याण कर सकेगा क्या? ऐसा धम निर्वाण सुख दे सकेगा क्या?

जो दुर्गति मे गिरते हुए जीवों को वचा न सके उसे धम कहेंगे भला? जो आत्मा पर से अनादि काल से लगे हुए कर्म के वंधनों को तोड़ न सके, उसे धर्म कहेंगे क्या? दुनिया का वड़ा मानव समूह सदा अज्ञानता में ही रहा है। भगवान् महावीर देव के समय में गोशाले के अनुयायियो की संख्या वड़ी थी, इससे क्या गोशाले का मत स्वीकार्य हो सकता है? 'वहुमत जिसका आचरण करे, वही आचरण करने योग्य'—यह मान्यता अज्ञान मूलक है।

आज व्याख्यान में भी कितना ही व्याख्यातावर्ग इस प्रकार सोचने लगा है कि वहुमत क्या चाहता है? वही बोलो। लोक-रुचि का अनुसरण करने में, लोकहित का विचार नही रहता। लोगों की रुचि सदा आत्म विमुख रही है, जड़ सम्मुख रही है। इस लोक रुचि का अनुसरण करने में क्या लोकहित हो सकता है? अतः लोकसज्ञा का अनुसरण करने के लिये भगवान् ने निषेध किया है। लोगों का आत्म हित जिस प्रकार हो, उसी प्रकार प्रयत्न करने को कहा है। हाँ, आत्म हित को न समझने वाले लोगों को वह अप्रिय भी लगता है, परन्तु

उतने मात्र से आत्महित का उपदेश बदला नही जा सकता।

अलवत्त, लोगो की अभिरुचि आत्म सन्मुख बनाने के प्रयत्न करने हैं, इसके लिये लोक रुचि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वह ज्ञान प्राप्त करने मे लोक सज्ञा का अनुसरण नही, इसी प्रकार श्री जिन प्रवचन की निंदा का निवारण करने हेतु कभी लोगो का अभिप्राय का अनुसरण किया जाए, तो उसमे लोक सज्ञा नही, परन्तु प्रवचन सयम और आत्मा को भूलकर, मात्र लोक रजन हेतु, लोक प्रशसा प्राप्त करने हेतु, लोक रुचि का अनुसरण किया जाए तो वह लोक सज्ञा है।

लोक रुचि का अनुसरण करने वाले अनेक मिथ्यामत विश्व मे निकलते है और विलीन होते हैं उन मतो-धर्मो का अनुसरण करने से मोक्ष प्राप्ति नही होती।

श्रेयोर्थिनो हि भूयासो लोके लोकोत्तरे न च।
स्तोका हि रत्न वणिज स्तोकाश्च स्वात्मसाधका ॥५॥

श्लोकार्थ

वास्तव मे, मोक्ष के अर्थी मोक्षमार्ग मे और लोकोत्तर मार्ग मे अधिक नही क्यो कि रत्न के व्यापारी थोडे होते है, उसी प्रकार अपनी आत्मा का साधन करने वाले भी थोडे ही होते हैं।

श्लोक विवेचन

मोक्षार्थी।

सर्व कर्म के क्षय के अर्थी।

विमुख लोग प्रसन्न हो सकते हैं क्या ? तेरी आराधना से अपनी आत्मा को ही प्रसन्न कर। परमात्मा की प्रीति प्राप्त कर— इसके सिवाय और कोई अपेक्षा न रख। नहीं तो तू कभी का आराधना से विमुख हो जाएगा। जब लोग तेरी आराधना की प्रशसा नहीं करेंगे, तब आराधना में से तेरा मन उचट जाएगा, तुझे आनन्द नहा आएगा।

लोकसज्ञाहता हन्त नीचैर्गमनदर्शनैः।
शसयन्ति स्वसत्यांगमर्मघात महाव्यथाम् ॥३॥

श्लोकार्थ

अफसोस है कि लोकसज्ञा से मारे गए धीरे चलकर और नीचे देखकर अपने सत्यव्रतरूपी अंग मे मर्म प्रहार की महावेदना प्रकट करते है।

श्लोक विवेचन

अफसोस........

आप धीरे २ चलते है, नीची दृष्टि करके चलते हैं—क्यो ? आप लोगो को यह समझाना चाहते हैं कि किसी जीव की हिसा न हो इस प्रकार हम चलते है। शास्त्र द्वारा बताई हुई विधि का पालन करते है। दृष्टि पर हमारा सयम है........इधर उधर दृष्टि जाती नही, और हम उच्च कक्षा के आराधक है........' परन्तु अब आपका दभ खुल गया है। आपको लोग उच्च कोटि का आराधक नही कहते। तब तुम्हारे मुख पर कैसी कालिमा छा जाती है ? आप दूसरे आराधकों की प्रशसा सुन सकते नही आप दूसरे आराधको की अवसर आने पर निंदा ही करते है। आपके मुह से स्व प्रशंसा के सिवाय

अन्य की प्रशसा सुनने को ही नही मिलती। आपने लोक प्रशसा प्राप्त करने के लिए कमर कसी है। तप से, व्याख्यान से, शिष्य परिवार से, मलीन वस्त्रो से, किसे आकर्षित करना चाहते है ? शिवरमणी को ? नही नही ! लोगो को आप अपने भक्त बनाना चाहते हो।

आप धीरे धीरे क्यो चलते हैं ? आपके सत्य, सयम आदि अग मे मार्मिक प्रहार की वेदना हुई है लोकसज्ञा ने आपके मर्म स्थान पर प्रहार किया है इस प्रहार की वेदना से आप धीरे न चलें तो क्या करें ?

आप नीचे देखकर चलते हैं ! क्या होगा ? आपकी दृष्टि को लोक सज्ञा के ज्वलन्त प्रकाश ने चकाचौंध कर रखी है, ऊपर देख नही सकते। वास्तव मे अफसोस होता है, दुख होता है। आपका दभ अब सहन नही होता—पर आपको बदल भी तो कैसे ? अफसोस किए बिना अन्य कोई मार्ग हमारे लिये नही।

धर्म की आराधना प्रभावना करते 'आत्मा की विषय कषायो से निवृत्ति' स्मृति मे रहती है क्या ? परमात्मा का शासन याद रहता है क्या ? क्या याद रहता है ? 'मैं', आपको अपनापन और उसकी प्रशसा याद रहती है। ओह ! आप कमर तोड डाले वैसी दीपती आराधना करते हैं—परन्तु यदि इसमे मोक्ष और आत्मा मुख्य बना दो तो ? अत आत्मा को पहचानो। आत्मा की स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाओं को पहचानो। मोक्ष के अनत सुख को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करो।

यदि यह लक्ष्य, उद्देश्य, आदर्श नही रखोगे तो विषय कषाय की वृद्धि होती रहेगी ! सज्ञाए पुष्ट होती जाएगी। लोक सज्ञा आपको अनन्त भवों मे रगडवाएगी। कीर्ति-प्रशसा की भूख

वहुत वढ़ जाएगी—और जव इस भूख को मिटाने वाला 'यश ! कीर्ति' नाम कर्म आपके पास नही होगा तव क्या करोगे ?

आज लोकोत्तर मार्ग में भी लोक संज्ञा में फंसे हुए दिखाई देते हैं तव अफसोस के सिवाय अन्य कौन सा मार्ग है ? परमात्मा के शासन की धुरा को वहन करने वाले ही जव लोक संज्ञा में फस जाए, तव दूसरा कौन सा मार्ग रहता है ? अत. उपाध्याय जी महाराज तीक्ष्ण प्रहार कर रहे है ।

लोक संज्ञा में फंसे हुए मनुष्य 'लोकहित' करने का वचाव करते है । लोक हित, लोगों की आत्मा को पहिचाने विना नही हो सकता ? लोक अहित का विवेक लोक संज्ञा मे फंसा हुआ व्यक्ति कर सकता नहीं । वह हित को अहित और अहित को हित मान लेता है ! उसके हृदय में जीवो का आत्म कल्याण वसा हुआ होता ही नही । वह तो जिसमें अपनी कीर्ति, यश वर्धन हो ऐसी ही प्रवृति करेगा और उसे 'आत्महित' का लेवल लगाएगा । ऐसी परिस्थिति में से विरला ही रत्न का व्यापारी महामुनि वाहर निकल सकता है । मनुष्य जीवन और प्राप्त लोकोत्तर मार्ग लोक संज्ञा से कुचल डालने वाला मनुष्य वास्तव में शोक का पात्र है ।

अत. लोक संज्ञा का त्याग करो ।

आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ किं लोकयात्रया ।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च भरतश्च निदर्शने ॥७॥

श्लोकार्थ

आत्मा साक्षी जिसमे है ऐसे सत्यधर्म की प्राप्ति हुए लोक व्यवहार का क्या काम है ? उसमें प्रसन्नचन्द्र राजर्षि और भरत महाराजा दृष्टान्त है ।

श्लोक विवेचन

चक्रवर्ती भरत।

भगवान् श्री ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र।

उन्हे केवलज्ञान किस प्रकार हुआ था—यह बात तो आपको पता है न ? स्नान करके, श्रेष्ठ वस्त्र आभूषण पहन कर यह जानने के लिये कि मैं कितना सुन्दर लगता हू, वे भवन मे गए थे। दर्पण मे अपनी शोभा देखते थे कि उनकी उगली पर से अगूठी गिर पडी। अगूठी के बिना उँगली शोभा रहित लगी। धीरे धीरे अन्य अलकार भी उतारते गए। 'मेरी शोभा पर पुद्गल ऐसे अलकारो से ?' धर्मध्यान शुक्लध्यान और केवल ज्ञान ! गृहस्थ सासारिक के वेष मे ही केवलज्ञान हो गया। शृगार भवन के बाहर दरबारीगण चक्रवर्ती भरत की राह देखते थे परन्तु बाहर निकले केवलज्ञानी भरत ! उन्हें आत्म-साक्षी से ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ?

श्मशान मे एक पाव पर खडे हुए थे। दृष्टि सूर्य के सामने लगा रक्खी थी। रास्ते चलते सैनिको की बात उनके कान मे पडी। प्रसन्नचन्द्र के पुत्र का राज्य उसके चाचा हडपने को तैयार हुए हैं—बस, राजर्षि ने मानसिक युद्ध मचाया। घोर सग्राम लडने लगे। श्रेणिक महाराजा ने राजर्षि की तपश्चर्या देखी, वन्दना लेने लगे। बाह्य दृष्टि से उग्र तपश्चर्या करने वाले ये राजर्षि आत्म साक्षी से तपस्वी थे ? नही, सातवी नरक मे ले जाने वाले घोर कर्मो का बधन कर रहे थे।

दोनो दृष्टान्त कैसे दिये हैं। परस्पर विरोधी। भरत महा-राजा बाह्य दृष्टि से आरभ-समारभ से भरे ससार रसिक दिखाई

देते थे, परन्तु आत्मसाक्षी से निर्लिप्त थे। 'भरतजी मन मांही वैरागी—' जबकि प्रसन्नचन्द्र वाह्य दृष्टि से आरंभ समारभ से रहित मोक्ष रसिक आत्मा दीखते थे, परन्तु आत्मसाक्षी से युद्ध रसिक—वाह्य भावों में लिप्त थे।

श्री महानिशीथ सूत्र का यह वचन है :

"धम्मो अप्पसक्खिओ"

धर्म आत्मसाक्षिक है। यदि आत्मसाक्षी से हम धार्मिक है, तो फिर लोक व्यवहार की क्या आवश्यकता है ? लोगों में धर्म प्रकाशन करने की क्या आवश्यकता है ? 'मै धार्मिक हूँ—मै आध्यात्मिक हूँ—ऐसा दुनिया को वताने का स्वाग करने की क्या जरुरत है ? अतः आत्मसाक्षी से सोचने की आवश्यकता है। मै धार्मिक हूँ, अर्थात् शीलवान् हूँ, सदाचारी हूँ, न्यायी हूँ, निस्पृह हूँ, निर्विकार हूँ - इस बात का निर्णय आत्मा के पास करवाओ। लोगों के 'प्रमाण-पत्र' पर निर्णय न करो। प्रसन्न-चन्द्र को श्रेणिक महाराजा ने कैसा प्रमाण पत्र दिया था। उग्र तपस्वी—महान् योगी—सच्चे महात्मा—आदि, परन्तु क्या प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने इस प्रमाण-पत्र पर केवलज्ञान प्राप्त किया था ? नही, यह तो जव शत्रु को मारने के लिये अन्य कोई शस्त्र न रहा तव सिर का मुकुट मारने के लिये हाथ सिर पर गया—सिर पर मुकुट कहाँ था ? सिर पर तो वाल भी नहीं थे—लोच हुआ सिर था— तव वे पीछे हटे। उन्हे अपनी भूल समझ में आई—पश्चात्ताप हुआ—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में चढे और केवलज्ञानी वने।

धर्म की उपासना करने में लोकसाक्षी को प्रमाणभूत न माने। मात्र आत्मसाक्षी को ही प्रमाणभूत माने। लोकसाक्षी को प्रमाणभूत मानेगे तो लोगों मे आपकी धर्माराधना जानने की

भावना रहेगी—अत दृष्टि सदैव लोगो पर रहेगी, आत्मा पर नही। आत्मा की उपेक्षा होगी। आत्मा की साक्षी के प्रति परवाह नहीं रहेगी और अन्त मे 'धर्म आत्मा के लिये करता हू' यह भुला दिया जाएगा और मात्र लोगो को खुश करने के लिये ही धर्माराधना होगी। इस प्रकार आत्म कल्याण का महान् काय रुक जाएगा और आप भव मे भटक पडेगे। मोक्ष का स्वप्न ध्वस्त हो जाएगा। पुन चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण शुरु हो जाएगा—तो फिर लोकसाक्षी से धर्म क्यो किया जाय ?

धर्म काय मे आत्मा की साक्षी को प्रधान पद दें।

लोकसञ्ज्ञोज्झित साधु परब्रह्मसमाधिमान्।
सुखमास्ते गतद्रोहममतामत्सर ज्वर ॥८॥

श्लोकार्थ

लोक सञ्ज्ञा से रहित परब्रह्म के विषय मे समाधि वाले मुनि जिनका द्रोह, ममता और गुणद्वेषरूपी ज्वर दूर हो चुका है, वे सुख से रहते हैं।

श्लोक विवेचन

महाराज साहब ! आप सुख से रहे।

आपके मन मे दु ख किस बात का ? परब्रह्म में समाधि—आपके सुख को उपमा भी किस की दें ? मन मे दु ख तो उस पामर प्राणी के होता है जिसे द्रोह जलाता हो, ममता मम स्थानो मे डख मारती हो, मत्सर का दाहज्वर सताता हो। आपके मन मे द्रोह, ममता या मत्सर नही। आपके सुख की कोई अवधि नही, सीमा नही।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२४ शास्त्र

चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे देवाश्चावधिचक्षुषः ।
सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः साधवः शास्त्रचक्षुषः ।।१।।

श्लोकार्थ

सभी मनुष्य भले ही चर्मचक्षु धारी हो, चर्मचक्षु से भले ही विश्व के पदार्थों को देखते हों, आप मुनिराज हैं, आपके चक्षु शास्त्र हैं। आप जो विश्व दर्शन करें, पदार्थ दर्शन करें वह सब शास्त्र चक्षु से ही करे।

देवता अवधिज्ञान रूपी आँखो वाले होते है। वे जो कुछ भी जानते या देखते है वह अवधिज्ञान की आँख से ही। मुनिवर ! आप अवधिज्ञानी है। आप तो शास्त्रज्ञानी हैं। आपको जो कुछ जानना हो, देखना हो, वह शास्त्र की आँखों से ही जानना-देखना है।

सिद्ध भगवंतो के एक नेत्र है केवल ज्ञान का और दूसरा नेत्र है केवल दर्शन का। वे इस नेत्र के द्वारा ही चराचर विश्व को देखते तथा जानते है। साधु भगवतों के लिये शास्त्र ही चक्षु होते है। शास्त्र ही नेत्र-आँखे। आँखे खुली रखकर ही जगत को देखे। यदि आँखे बन्द रखकर देखने जायेगे तो भटक जायेंगे।

साधु के लिये दिन-रात के २४ घंटो मे से १२ घंटे शास्त्र-स्वाध्याय हेतु रक्खे गये है, ६ घंटे निद्रा के लिये रक्खे गये हैं और ३ घंटे आहार विहार और निहार (दीर्घ शंका) हेतु रक्खे गए हैं। शास्त्रो के अध्ययन बिना ज्ञान चक्षु खुल ही नही सकते।

शास्त्रचक्षु नया खोलना होता है। उसके लिये विनयपूर्वक सद्गुरुदेव के पास शास्त्रो की वाचना लेना, फिर शंका उपस्थित हो तो विनयपूर्वक गुरुदेव को प्रश्न पूछकर शंका का समाधान करना। नि शंक बने हुए शास्त्र-पदार्थ विस्तृत न हो जायें इसके लिए उनका परावर्तन करना। परावर्तन से वे शास्त्र पदार्थ स्मृति मे सुदृढ हो जाए तब उन पर चिंतन करना। शास्त्रो के शब्दो का अर्थ निर्णय करना, भिन्न २ 'नयो' से उसके रहस्य को समझना। एक ही शब्द भिन्न २ स्थानो पर भिन्न २ अर्थ बताता है। एक ही अर्थ सर्वत्र नही चलता। द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के अनुरूप अर्थ रहस्य निकालना होता है। इसके बाद अन्य जीवो को शास्त्र बोध देने का कार्य शुरू करना चाहिये।

परमात्मा जिनेश्वर देव के धर्म शासन मे कोई एकाध ग्रंथ पढ-सुन लेने से कार्य की इति नही होती। अन्य धर्मो मे तो एक गीता, एकाध बाइबिल या कुरान आदि पढ ने तो उस धर्म का परिचय प्राप्त हो सकता है। परन्तु जैन धर्म एकाध ग्रंथ मे समा जाए ऐसा संक्षिप्त नही। उसका पदार्थ विज्ञान, इसका मोक्ष मार्ग इसका खगोल ज्ञान और भूगोल-ज्ञान, इसका शिल्प और साहित्य, इसका ज्योतिष विज्ञान और जीव विज्ञान इतना अधिक विशाल है कि इन सबका संक्षेप किसी एक ग्रन्थ में नही मिल सकता। बहुत से लोग पूछते हैं कि जैन धर्म का ऐसा कोई ग्रन्थ है जैसी कि गीता, कुरान या बाइबिल ? नही। नही है।

जैन धर्म का ज्ञान प्राप्त करने मे जीवन का बहुत बड़ा समय दिया जाए तभी इसके सिद्धान्त समझ में आ सकते है।

साधु भगवन् ने धन कमाने, घर बनाने या पुत्र परिवार की सम्हाल रखने का कोई चक्कर नही होता। भारत की प्रजा, उसमे भी विशेषकर जैन मघ, उनकी भक्ति पूर्वक सब आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। साधु भगवन् के लिए तो रहता है मात्र पच महाव्रतमय पवित्र जीवन यापन और शास्त्रो का स्वाध्याय। इनके अतिरिक्त जरा भी चिन्ता नही। चर्मचक्षु का प्रकाश कितना कीमती समझा जाता है ? शास्त्र चक्षु का प्रकाश उससे भी अधिक मूल्यवान समझा जाना चाहिये। जितनी चिन्ता चर्म चक्षु की रक्खी जाती है, उससे अधिक चिता शास्त्र चक्षु की रखनी आवश्यक है। शास्त्र दृष्टि के प्रकाश मे विश्व का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा, यथार्थ दर्शन होगा। भ्रान्तियां दूर होगी। चित्त विषय कपाय के विचारो से मुक्त होगा।

अत शास्त्र चक्षु प्राप्त करे, और उज्ज्वल करे।

पुरः स्थितानिवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक विवर्तिन. ।
सर्वान् भावानवेक्षन्ते ज्ञानिन. शास्त्रचक्षुषा ॥२॥

ज्ञानी पुरुष शास्त्ररूपी चक्षु से ऊर्ध्व-अधो और तिच्र्छालोक मे परिणत होते सर्व भावों को सामने ही हो ऐसे प्रत्यक्ष देखते हैं।

श्लोक विवेचन

चौदह राजलोक........

शास्त्र दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

मानो सामने ही चौदह राजलोक न हो, ऐसा दिखाई देता है। शास्त्र दृष्टि का तेज....... इसका प्रकाश इतना तीव्र और व्यापक है कि सभी भावो का इसमें दर्शन होता है।

सामने दृष्टि ऊपर जाती है, समग्र ऊर्ध्व लोक दिखाई देता है। देवेन्द्र और देवों का यह ज्योतिष चक्र।

इसके ऊपर सौधर्म और ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र-देवलोक, फिर ब्रह्म, लांतव, महाशुक्र सहस्रार—ऊपर ऊपर के देवलोक। उन पर ये नत और प्राणत। इनके बाद आरण और अच्युत देवलोक। ये बारह देवलोक देखे?

अब उनसे आगे गये तो बाद एक नवग्रैवेयक देवलोक देखें। अब आप लोकांत के निकट का रमणीय प्रदेश देखेंगे—देखा यह प्रदेश? ये पांच अनुत्तर के नाम से प्रसिद्ध हैं। वहां से जहां अनंत सिद्ध भगवान् विराजमान हैं, वह सिद्ध शिला मात्र बारह योजन दूर है। इन सिद्ध भगवन् का कैसा सुख है—अक्षय और अनंत अव्याबाध! खैर! अभी तो इतना देखकर ही संतोष मानो, इसका अनुभव करने के लिये तो शरीर रहित बनना पड़ता है।

अब जरा नीची दृष्टि करो। देखना कांप न उठो। पहिले तो नीचे रहे हुए व्यन्तरों के असंख्य भवन देखो और वनों में रमणीय उद्यानों में क्रीड़ा करते हुए वानव्यन्तरों को भी देखो। ये सभी देव हैं, इन्हें 'भुवनवासी' कहते हैं।

और नीचे चलो।

यह पहिली नरक है। इसका नाम है रत्नप्रभा, इसके नीचे शर्करा प्रभा है। इसी के नीचे तीसरा नरक वालुकाप्रभा है। चौथा नरक देखा? कितना भयंकर है? इसका नाम है पंक-प्रभा। पांचवें नरक का नाम है धूमप्रभा। छठा तम प्रभा और सातवां महातम प्रभा। कैसा घोर अंधकार ...जीव परस्पर कितना संघर्ष कर रहे हैं.... कैसी दुर्दान्त वेदना ... चीत्

और असह्य पीड़ा—देखा ? जीव मरना चाहते हैं, मर सकते नही ! हा, कट जाते है, पिस जाते है, परन्तु मरते नही ! आयुष्य पूर्ण न हो तव तक मर नही सकते । यह है अधोलोक ।

अव आप जहाँ है, उस मध्यलोक को देखे । शास्त्रचक्षु से यह भी दिखाई देगा । एक लाख योजन का जंबूद्वीप । इसके चारों ओर फैला हुआ दो लाख योजन का लवण समुद्र । लवण समुद्र को घेरा हुआ धातकी खड है जो चार लाख योजन का है । इसके वाद कालोदधि समुद्र—पुष्करवर द्वीप, पुनः समुद्र पुनः द्वीप । इस प्रकार मध्यलोक मे असख्य द्वीप और समुद्र है । अन्तिम समुद्र स्वयभूरमण है ।

चौदह राजलोक की यह रचना देखी ? इसके सामने खडे रहकर आप चौदह राजलोक को देखे तो इसका आकार कैसा लगता है ?

दो पाँव चौड़े करके, दो हाथ कमर पर टिकाकर खड़े हुए मनुष्य जैसा लगता है न ?

+यह 'चौदह राजलोक' कहलाता है । 'राजलोक' क्षेत्र का एक नाप है । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये पाँचों द्रव्य शास्त्र दृष्टि से देखे जाते है ।

श्रुतज्ञान के क्षयोपशम के साथ अचक्षुदर्शनावरण का क्षयोपशम जुडे तव शास्त्र चक्षु खुलते है और वास्तविक दर्शन होते हैं । विश्व रचना, विश्व के पदार्थ, इन पदार्थों का परिवर्तन—आदि का चितन—*द्रव्यानुयोग का चितन है । द्रव्यानुयोग के

\+ चौदहराज लोक का स्वरूप देखे परिशिष्ट में ।

* द्रव्यानुयोग आदि अनुयोगो का स्वरूप परिशिष्ट मे देखें ।

चिंतन से खूब कर्म निर्जरा होती है। मन के अशुभ विचार रुकते हैं। दुनिया में होती विचित्र घटनाओं, अकस्मातों और प्रसंगों में आश्चर्य, कुतूहल या जिज्ञासाएँ प्रकट नहीं होती। आत्मा स्थितप्रज्ञ दशा प्राप्त करती है। अत शास्त्र चक्षु खोलो। ये बंद न हो जाएँ, इसके लिये सदा सावधान रहो। शास्त्रचक्षु का दर्शन आपको आनंद से भर देगा।

शासनात् त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरुच्यते।
वचनं वीतरागस्य तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ॥३॥

श्लोकार्थ

हितोपदेश करने से और रक्षा की सामर्थ्य से पंडितों द्वारा 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। वह शास्त्र वीतराग वचन कहलाता है। अन्य किसी का नहीं।

श्लोक विवेचन

वीतराग वचन अर्थात् शास्त्र

रागी और द्वेषी के वचनों को शास्त्र नहीं कहते। रागी-द्वेषी मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, बुद्धिशाली हो, परन्तु वह वीतराग के वचनों की अवहेलना कर, अपनी कल्पना से ग्रंथों का निर्माण करे तो उन्हें शास्त्र नहीं कहते।

शास्त्र आत्महित का उपदेश देते हैं।

शास्त्र सभी जीवों की रक्षा करने का कहते हैं।

शब्द शास्त्र की दृष्टि से 'शास्त्र' शब्द से ये दो अर्थ निकलते हैं।

शासनसामर्थ्येन च सन्त्राणबलेनानवद्येन।
युक्तं यत् तच्छास्त्रं तच्चैतत् सर्वविद्वचनम् ॥
—प्रशमरति

'हित शिक्षा देने के सामर्थ्य से और निर्दोष रक्षण करने की शक्ति से युक्त हो वह शास्त्र है और वह सर्वज्ञ वचन है।'

सर्वज्ञ वीतराग वचन में ही ये दो बातें मिलती हैं। उनका वचन आत्महित का उपदेश देता है। उनका वचन निर्दोष जीव रक्षा करने के लिये कहता है।

राग और द्वेष से उद्धत्त चित्त वाले जीवो का सम्यक् अनुशासन करने वाले शास्त्र को नही मानने वाले उद्दंड मनुष्यों से पूछो कि—

×आत्मा को चर्म चक्षु से देखने का आग्रह रखने वाला प्रदेशी, जीवित प्राणियों को चीर कर आत्मा को ढूँढता था; सचेतन जीवो को लोहे के सन्दूक में वन्द कर दम घुटवा कर मार डालता था—ऐसे २ क्रूर प्रयोग करने वाला प्रदेशी—उसे किसने दयालु वनाया ? केशी गणधर ने किसके वचनों से—शास्त्रों से प्रदेशी का हृदय परिवर्तन कर जीवरक्षक वनाया ?

×अभिमान के आसमान में चढ़े हुए इन्द्रभूति को परम विनयी, द्वादशांगी का प्रणेता और अखंड लब्धिवान् किसने वनाया ?

×रंग-राग और भोग-विलास मे मस्त-राग में चकचूर शालिभद्र को पत्थर की धधकती शिला पर सोकर, अनशन करने का सामर्थ्य किसने दिया ?

×दृष्टि मे से विष का लावारस उगलते चंडकौशिक को शात, प्रशात और सहिष्णु महात्मा किसने वनाया ?

×अनेक हत्याओ के ढेर पर वैठकर क्रूरता की डुगडुगी वजाने वाले अर्जुनमाली को महाव्रतधारी महात्मा किसने वनाया ?

जिन वचन के इन ऐतिहासिक चमत्कारो को क्या आप अकस्मात् कहेंगे ? आत्मा को महात्मा और परमात्मा बनाने वाले इन जिन वचनो के शास्त्रो की क्या आप अवहेलना कर सकेंगे ? और उपेक्षा करके क्या आप अपने दु खो को दूर करने मे सफल होगे ?

यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
सन्त्रायते च दु खाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भि ॥

—प्रशमरति

शास्त्र द्वारा सृजित असख्य चमत्कारो का उल्लेख जो इतिहास मे भरा पडा है, उस उल्लेख का अध्ययन आज कौन करता है ? दुनिया मे हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह के गटरो को उभारने वाले इतिहास आज विद्यार्थियो को पढाए जाते हैं, परन्तु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रहवाद की गगा-यमुना बहाने वालो के इतिहास को स्पर्श करने मे भी शर्म आती है ।

दु खो को दूर कर राग और द्वेष की उद्धताई को वश मे लेने वाले और आत्मा का वास्तविक हित करने वाले शास्त्रो के प्रति श्रद्धा रखने मे ही मनुष्य सुधर सकता है ।

शास्त्र और शास्त्रकारो को गालियाँ दिलवाकर, मनुष्य को सुधारने की आज के सुधारक बातें करते है । शास्त्र और शास्त्र के प्रणेता वीतराग परम पुरुषो के प्रति नफरत पैदा कर नट नर्तकियों और देश नेताओ के प्रति आदरयुक्त बना कर मनुष्य को सुधारना है ! कैसी अज्ञानदशा है ।

वीतराग भगवन् के वचनरूपी शास्त्र को अपनी दृष्टि बनाने वाला मनुष्य ही आत्महित परहित करने में समर्थ है

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतराग: पुरस्कृत: ।
पुर क्ते पुनस्तस्मिन् नियमात् सर्वसिद्धय: ॥४॥

श्लोकार्थ

इसलिये शास्त्र को आगे किया अर्थात् वीतराग को आगे किया है और वीतराग को आगे किया अर्थात् नियम से सर्व सिद्धि होती है ।

श्लोक विवेचन

शास्त्र = वीतराग

जिसने शास्त्रों को माना, उसने वीतराग को माना ।

जिसने वीतराग को हृदय मे धारण किया उसके सब काम सिद्ध हुए !

शास्त्र याद आएँ और उनके कर्ता याद न आएँ ? आएँ ही। वीतराग को स्मृतिपथ में लाए अर्थात् वीतराग की शक्ति आपकी शक्ति बनी । वीतराग की अनंत शक्ति से कौन सा कार्य असाध्य है ?

पू० श्री हरिभद्र सूरिजी ने 'षोडषक' में कहा है :—

अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात् सर्वार्थसिद्धय. ॥

'तीर्थंकर प्रणीत आगम हृदय में हों तव परमार्थ से तीर्थंकर भगवान् हृदय में होते है क्योंकि वे उनके स्वतंत्र प्रणेता है । जब तीर्थंकर भगवान् हृदय मे हों तव अवश्य सर्वार्थो की सिद्धि होती है ।'

जो कुछ सोचना, बोलना या करना वह सब जिन प्रणीत

आगम के आधार पर ! "मेरे भगवान ने यह सोचने को कहा है ? मेरे भगवान ने क्या यह बोलने का कहा है ? मेरे भगवान ने क्या ऐसा आचरण करने का कहा है ?" यह विचार जीवन मे धुलमिल जाना चाहिये।

जिनेश्वर भगवतो को एक क्षण के लिये भी हृदय से न विसराये। भगवन् अचिन्त्य चिंतामणि है। भगवन् भवसागर मे जहाज है। एकात शरण्य है। ऐसे परम करुणानिधि परमातमा का निरतर स्मरण शास्त्र स्वाध्याय से रहता है। शास्त्र से शास्त्र के रचयिता परमात्मा की याद आती ही है।

जिनश्वर भगवतो का प्रभाव अद्भुत है। राग और द्वेष रहित परमात्मा भी उनका ध्यान करने वाली आत्माओ को दुःखो से मुक्त करते है। चिन्तामणि रत्न मे कहाँ राग और द्वेष होते है ? फिर भी उसका ध्यान करने वाले, विधिपूर्वक उपासना करने वाले के मनोवाछित पूर्ण होते हैं। परमात्मा का आत्म द्रव्य ही ऐसा सर्वोत्तम प्रभावशाली है कि उनका ×नाम स्थापना द्रव्य या भाव द्वारा स्मरण किया जाए तो सभी कार्यों की सिद्धि होती है।

जिनेश्वर परमात्मा के स्मरण का सुन्दर उपाय शास्त्र का स्वाध्याय है। शास्त्र स्वाध्याय के माध्यम से जिनेश्वर भगवान् का जो स्मरण होता है, जो स्मृति होती है, वह अपूर्व और अद्भुत होती है, उसमे रसानुभूति होती है।

"आगम आयरतेण अत्तणो हियकखिणो।
तित्थनाहो सयबुद्धो सव्वे ते बहुमनिया ।।"

× चार निक्षेप का स्वरूप परिशिष्ट मे देख।

'तूने आगम का (शास्त्र का) आदर किया अर्थात् आत्महित करने की इच्छा वाले और स्वयंबुद्ध तीर्थंकर आदि सबका आदर किया है।''

आगम का आदर करने का इस प्रकार सर्वत्र कहा गया है, परन्तु शास्त्र को सर्वोपरि मानना तभी संभव हो सकता है, जब आत्मा हित करने के लिये तत्पर बनी हो। जहाँ तक इन्द्रियों के विषय सुखो मे ही आसक्त हो, कषायो के अधीन हो, संज्ञाओं के प्रभाव में दबी हो तब तक शास्त्र के प्रति अभिरुचि नही हो सकती, शास्त्र का आदर नही हो सकता।

आज के विज्ञान युग मे और भौतिकवाद के ज्वार में शास्त्राध्ययन बहुत घट गया है। शास्त्रो के सिवाय इतना अधिक पढने को मिलता है कि शास्त्र पढने की रुचि ही नही होती। बालकों, युवकों और वृद्धों—सभी को देश कथाओं, राज-कथाओं, भोजन कथाओ, स्त्री कथाओ, सिनेमा-कथाओं मे ऐसा अनुराग पैदा हुआ है कि शास्त्र कथाएँ उन्हे नीरस लगती है, निरुपयोगी लगती हैं। शास्त्र कथाएँ मनुष्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग अदा नही करती।

परन्तु जो मुनि हैं, साधु हैं, उन्हे तो शास्त्राध्ययन द्वारा परमात्मा जिनेश्वर देव की अचिन्त्य कृपा का पात्र बनना ही है।

अदृष्टार्थेऽनुधावन्त: शास्त्रदीप विना जडा: ।
प्राप्नुवन्ति परं खेद प्रस्खलन्त: पदे पदे ॥५॥

श्लोकार्थ

शास्त्ररूपी दीपक के विना परोक्ष अर्थ मे पीछे दौड़ते अविवेकी मनुष्य कदम २ पर ठोकरें खाते हुए अत्यन्त क्लेश के शिकार बनते हैं।

श्लोक विवेचन

जो प्रत्यक्ष नही।

कान से सुनाई देते नही। आँखो मे दिखाई नही देते, नाक से सूँघे नही जाते, जीभ से चखे नही जाते—स्पर्श से जिनकी अनुभूति नही हो सकती—ऐसे परोक्ष पदार्थो का ज्ञान आप कैसे प्राप्त करेंगे ?

आप कब से भटक रहे हैं ? कितनी ठोकरे खाई ? कितना क्लेश हुआ ? भाग्यशाली ! इस प्रकार कब तक भटकते रहोगे ?

परोक्ष पदार्थो मे मुख्य पदार्थ है आत्मा।

परोक्ष पदार्थों मे महत्त्वपूर्ण पदाथ है—मोक्ष।

परोक्ष पदार्थो मे स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, महाविदेह आदि क्षेत्र आदि अनेक पदार्थो का समावेश होता है। इन परोक्ष पदार्थों की सृष्टि के गाइड हैं शास्त्र। परोक्ष पदार्थो की पहिचान करवाने वाले, बताने वाले दीपक हैं शास्त्र ! शास्त्रो की 'गाइड' बिना, शास्त्रो के दीपक बिना आप इन परोक्ष पदार्थों की सृष्टि मे उलझ जायेंगे, उकता जायेंगे। अँधा व्यक्ति अनजान प्रदेश मे भटकेगा नही तो क्या होगा ? फिर आप कहेंगे, 'यह सब कल्पना है।'

शास्त्रों का स्पर्श किए बिना पश्चिम के देशो की डिग्री लेकर विद्वान् बने हुए और स्वय को बुद्धिशाली मानते मनुष्य परोक्ष दुनिया को मात्र 'कल्पना' कहकर इस दिशा में कदम ही नहीं रखते।

महामुनि ! आप तो इस परोक्ष दुनिया के रहस्य जानने के लिय प्रतिज्ञाबद्ध हैं। आपको तो ये अगम्य, अगोचर रहस्य प्राप्त

करने ही पड़ेंगे। उसके लिये शास्त्रज्ञान का दीपक आपके पास ही रखना होगा। अंधकारपूर्ण प्रदेश में यात्रा करने वाला गृहस्थ 'बैटरी' साथ ही रखता है न। किसी खड्डे में पांव न फिसल जाए, कोई कांटा पांव में न चुभ जाए, किसी पत्थर के साथ टकरा न जाए, इसलिये बैटरी को वह बड़े ही महत्त्व का साधन समझकर अपने पास ही रखता है। परोक्ष पदार्थों की दुनिया में शास्त्रदीपक का प्रकाश फैलाती बैटरी चाहिये ही; अन्यथा अज्ञानता के खड्डे में पांव गिर जाए, राग के कांटे पांव में चुभ जाएँ; और मिथ्यात्व के पत्थरों से टकरा जाएँ—अतः शास्त्रज्ञान का दीपक साथ ही रक्खें।

परोक्ष दुनिया के रहस्य जानने हैं न? आत्मा, परमात्मा और मोक्ष की अभिनव, अद्‌भुत् और सद्‌भुत् बातें सुननी हैं न? आत्मा पर छाए हुए अनंत कर्मों के जाल की रचना जाने बिना कर्मों के बंधन कैसे तोड़ोगे? शास्त्रज्ञान के दीपक बिना कर्मों के जाल में फँसना ही होगा।

हाँ, परोक्ष पदार्थों की परिशोध में आपकी रुचि नहीं, परोक्ष पदार्थों की प्राप्ति हेतु उत्साह नहीं, परोक्ष पदार्थों का भंडार प्राप्त करने हेतु साहस करने की हिम्मत नहीं, तो शास्त्रों के ज्ञान में आपको अभिरुचि हो नहीं सकती। तो क्या शास्त्र ज्ञान का दीपक हाथ में लेकर घूमना आपको पसन्द नहीं?

परोक्ष पदार्थों को जानने देखने के लिये रस प्रचुरता चाहिये। उछलता हुआ उत्साह चाहिये, अविरल साहस करने की साहसिकता चाहिये तो इसका 'गाइड' खोजने का मन हो न! परोक्ष पदार्थ का प्रमाण, स्थान, मार्ग, सतर्कता, पहाड़, नदियाँ, वन, महावन, साधन आदि के ज्ञान बिना परोक्ष दुनिया की सफर कैसे हो सकती है?

इसीलिये शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है। हाँ, शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का बिल्कुल क्षयोपशम न हो तो शास्त्रज्ञानी महापुरुषो का अनुसरण करें, उनके कथनानुसार ही चले तब भी आप परोक्ष अर्थ के भडार के निकट पहुँच जाएँगे। द्राविड और वारिखिल्ल के साथ, पु डरिक स्वामी के साथ और पाडवो आदि के साथ करोडो मुनिजन परोक्ष अथ के शिखर पर पहुच गए, वे कैसे ? ज्ञानीजनो के सहारे। मुनि के लिये शास्त्रज्ञान जो आवश्यक बताया गया है वह हेतु पूवक है। मुनि परोक्ष दुनिया का यात्री होता है।

शुद्धोञ्छाद्यपि शास्त्राज्ञानिरपेक्षस्य नो हितम्।
भौतहन्तुर्यथा तस्य पदस्पर्शनिवारणम् ॥६॥

श्लोकार्थ

शास्त्र आज्ञा की अपेक्षा रहित स्वच्छदमति को शुद्धभिक्षादि बाह्य आचार भी हितकारी नही जैसे भौतमति की हत्या करने वाले को भौतमति के पाव को स्पर्श करने का निषेध करना।

श्लोक विवेचन

एक बडा जगल।

जगल मे भील लोग रहते हैं।

उनका राजा 'भिल्लराजा' कहलाता है।

भिल्लराजा ने एक गुरु किए जिनका नाम 'भौतमति'।

भौतमति योगी के पास एक सुन्दर छत्र था। मयूर पखो से वह बना हुआ था। कारीगरी का एक नमूना था। भिल्लराजा की रानी को यह छत्र बहुत पसद आया। उसने राजा को वह छत्र ला देने के लिये कहा। भिल्लराजा तो गया गुरुदेव के पास।

'गुरुदेव ! आपका छत्र रानी को पसन्द आ गया है, कृपया दीजिये।'

'नही, यह नही हो सकता।'

गुरु ने छत्र देने से इनकार कर दिया। भिल्लराजा क्रुद्ध हो गया। राजसभा में आकर सिपाहियों को आज्ञा दी : 'जाओ, भौतमति गुरु का वध करके छत्र ले आओ।'

सिपाही रवाना हुए, परन्तु तुरन्त भिल्लराज ने उन्हे पुनः बुलाकर कहा :

'देखो, गुरु के चरण-पूज्य होने से वहाँ प्रहार न करें।'

सिपाहियो ने आज्ञा शिरोधार्य की। रवाना हुए। गुरु के पास पहुच कर, दूर से तीर का प्रहार कर, गुरु को बीध डाला और छत्र लेकर भिल्लराजा के पास गये। राजा ने पूछा :

'गुरुदेव के चरणों का तो स्पर्श नही किया न ?'

'नही जी, हमने तो दूर से तीर फेंक कर उन्हे बीध डाला।'

भिल्लराजा की गुरुभक्ति कैसी ?

शास्त्रो की आज्ञा का उलंघन कर आप शुद्ध ४२ दोषरहित भिक्षा ले आते है, निर्दोष वस्ती में उतरते है, महाव्रतों का पालन करते है, परन्तु आज्ञा का उलंघन किया अर्थात् आत्मा की हत्या की। आत्मा की हत्या कर चाहे जितने बाह्य आचारों का पालन किया जाए, उनकी कोई कीमत नही। जिनाज्ञा—निरपेक्ष रहकर पाले हुए बाह्य आचार आत्मा का अहित करते है। इसलिये जिनाज्ञा का परिज्ञान होना आवश्यक है।

कोई मुनि ऐसा माने कि 'हमे शास्त्र स्वाध्याय की क्या

आवश्यकता है ? हम तो+वियालीस दोष टालकर भिक्षा लाएँगे। पाँच महाव्रतो का पालन करेंगे। प्रतिक्रमण प्रतिलेखन आदि क्रियाएं करेंगे, उपवास, आयविल आदि तप करेंगे—' ऐसा मानते और आचरण करते हुए मुनियो को सबोधित कर यहाँ कहा गया है 'आपके बाह्य आचार आपका आत्म हित नही करेंगे। जिनाज्ञा के अनुसार आपका आचरण नही। आप जिनाज्ञा को जानने का प्रयत्न ही करते, यह ही भारी दोष है।'

वर्तमान काल मे जिनाज्ञा ४५ आगम सूत्रो मे सग्रहित है। ★११ अग+१२ उपाग+६ छेद+४ मूल+१० पयन्ना+२ नदी सूत्र और अनुयोग द्वार=४५ मूल सूत्र। इन पर रचित चूर्णियो, भाष्यो, निर्युक्तियो और टीकाओ इस प्रकार पचागी आगम का अध्ययन करने से ही जिनाज्ञा का यथार्थ बोध हो सकता है। मूलसूत्रो को ही मान कर उनके अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार करने वाला जिनाज्ञा को नही समझ सकता अथवा ४५ आगमो मे से कुछ आगम माने, कुछ न माने तो भी उसे जिनाज्ञा का परिज्ञान नही हो सकता।

पचागी आगमो के अतिरिक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि, श्री उमास्वाति वाचक, श्री हरिभद्र सूरिजी श्री हेमचन्द्र सूरिजी, श्री वादिदेव सूरिजी, श्री शातिसूरिजी, श्री विमलाचार्य, श्री यशोदेव सूरि,—उपाध्याय श्री यशोविजय जी आदि महर्षियो की मौलिक ग्रथ रचनाओं का अध्ययन करना भी आवश्यक है। इन पूर्वाचार्य भगवतो ने आगमोक्त जिनाज्ञाओ को तर्क सिद्ध कर जिनाज्ञाओं के रहस्य प्रकट किए हैं।

+ बियालीस दोष } देखे परिशिष्ट
★ ४५ आगम }

जिनाज्ञा का ज्ञान प्राप्त कर पाले हुए आचार आत्महित करते हैं। सदैव जिनाज्ञा-सापेक्षता अपूर्व कर्मक्षय करती है। 'अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति जिनाज्ञानुसार मैं करूँगा—' ऐसा भाव मुनि-हृदय में निरन्तर रहना चाहिये।

अज्ञानाऽहिमहामंत्रं स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम्।
धर्मारामसुधाकुल्यां शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥७॥

श्लोकार्थ

बड़े ऋषि शास्त्र को अज्ञानरूपी सर्प का विष उतारने में महामंत्र समान, स्वच्छंदता रूपी ज्वर का नाश करने में उपवास समान, धर्मरूपी बगीचे में अमृत की नहर जैसे कहते हैं।

श्लोक विवेचन

कहते है कि

★सर्प का विष महामंत्र उतार डालता है।

★बुखार उपवास करने से उतर जाता है।

★पानी के सींचने से उद्यान हराभरा रहता है।

आपको किसी सर्प का विष चढ़ा है, क्या आप जानते है? आपको ज्वर की गर्मी है, इसका भान है क्या? आपका उद्यान पानी बिना वीरान हो गया है इस बात का आपको ख्याल है क्या?

और इसके लिये आप कोई महामंत्र खोजते हैं क्या? किसी औषधि की तलाश करते है अथवा पानी की नहर आपके बगीचे में बहती रहे इसका प्रयत्न करते है क्या? आपको इधर उधर टापने की आवश्यकता नहीं, चिंता, शोक या भय रखने की आवश्यकता नहीं।

हाँ, आप निदान करवाना चाहते हैं तो आओ, यहाँ शांति से बैठो।

आपको 'अज्ञान' नामक सप का विष चढा है।

आपको 'स्वच्छदता' नामक बुखार आ रहा है, काफी समय से आ रहा है—है न?

आपका 'धर्म' नामक बगीचा सूख रहा है?

आपको निदान सही लगे तो औषधादि लेना। जैसा निदान अचूक है वैसे ही इसके निवारण के उपाय भी अचूक है, अकसीर है, रामबाण है।

'शास्त्र महामत्र का जाप करें। अज्ञान सर्प का विष उतर जाएगा। 'शास्त्र' नाम का उपवास करे, आपका ज्वर हट जाएगा। 'शास्त्र' की नहर बहाओ, और धर्मरूपी बगीचा नवपल्लवित हो जाएगा।

इतना अवश्य समझलें कि एकाध दिन, एकाध माह, वर्ष 'शास्त्र' का स्वाध्याय करने मात्र से अज्ञान सर्प का विष नही उतरेगा। सम्पूर्ण जीवन मे दिन-रात प्रतिक्षण शास्त्र का जाप चलता रहना चाहिये। स्वच्छदता का ज्वर उतारने के लिये शास्त्र स्वाध्याय रूपी उपवास अनेक करने पड़ेंगे। ज्वर जीर्ण है और आत्मा के प्रदेश मे उसका कुप्रभाव व्याप्त हो चुका है, उसे दूर करने के लिये अनेक उपवास करने होंगे। शास्त्र की नहर द्वारा धर्म बगीचे को निरन्तर सींचना होगा। अन्यथा सूखते देर नही लगेगी। शास्त्राध्ययन करने का प्रयोजन मालूम हुआ न? इन सब लक्ष्यो से यदि शास्त्राध्ययन करेंगे तो आपकी आत्मा का रूप बदल जाएगा। विष उतरने मे आपको कैसा आनद आएगा इसकी कल्पना करे। ज्वर उतरने से आपको

कैसी प्रसन्नता होगी– इस विषय में सोचो। वगीचा हराभरा हो जाएगा, आपको छाया ठडक और सुगध देगा। विषरहित होकर, निरोगी वनकर जव इस धर्म उद्यान में आप विश्राम करेंगे तव देवलोक के इन्द्र से भी वढकर सुख का आप अनुभव करेंगे।

हाँ, विप चढा हो, ज्वर में शरीर जलता हो, उद्यान मे आपको आनन्द नही आएगा। उद्यान की रमणीयता आपको प्रसन्न नही कर सकेगी। उद्यान के सुगधित पुष्प आपको सुवासित नही कर सकेंगे, वहा के विश्राम स्थल आपको आराम नही दे सकेंगे। अत: 'शास्त्र' जिनके अर्थ स्वयं तीर्थंकर भगवान् ने कहे हैं जिन्हे लिपिवद्ध श्री गणधर भगवान् ने किये हैं, पूर्वाचार्य भगवतों ने जिन अर्थों को लोक भोग्य वनाए है—उन शास्त्रो का निरन्तर चिन्तन करे।

शास्त्र स्वाध्याय व्यसन रूप वन जाना चाहिये। इसके विना चैन ही नही हो सकती। सव कुछ मिले परन्तु शास्त्र स्वाध्याय न हो वहा तक व्याकुलता रहे। परन्तु जैसे २ शास्त्र स्वाध्याय वढ़ता जाए, वैसे २ अज्ञान, स्वच्छदता और धर्महीनता दूर होते जाते है या नही इसका ध्यान रक्खे। इसी लिये शास्त्र स्वाध्याय करना है, यह सदा याद रहे।

शास्त्रोक्ताचारकर्ता च शास्त्रज्ञ. शास्त्रदेशक॰।
शास्त्रैकदृक् महायोगी प्राप्नोति परमं पदम् ॥८॥

श्लोकार्थ

शास्त्र मे कथित आचार का पालन करने वाले, शास्त्र के जानने वाले, शास्त्र का उपदेश देने वाले और शास्त्र मे एक दृष्टि वाले महान् योगी परम-पद को पाते हैं।

श्लोक विवेचन

महायोगी !

शास्त्रो के जानने वाले होते हैं।

शास्त्र का उपदेश देने वाले होते हैं।

शास्त्र मे प्रतिपादित आचारो को स्वजीवन मे जीने वाले होते हैं।

इन तीनो का सगम जिसके जीवन मे दिखाई दे, वह महायोगी है। इन तीन बातो की चाबी है शास्त्र दृष्टि। शास्त्र दृष्टि बिना शास्त्रो का जानना सम्भव नही। उपदेश देना सम्भव नही और शास्त्रीय जीवन जीने का पुरुषार्थ भी सम्भव नही।

महायोगी बनने के लिए पहली शर्त है शास्त्र दृष्टि की। दृष्टि शास्त्र की ओर ही झुकी रहे। अपनी वृत्तियो, विचारो, मन के झुकावो आदि का विलीनीकरण मात्र शास्त्र मे ही किया हुआ हो। शास्त्र से भिन्न जिसकी वृत्ति नही, विचार नही, शास्त्रीय बातो मे अपनी वृत्तियो को भावित कर दी हो, इनके विचार ही शास्त्रीय बन गए हो इनका सुदृढ सकल्प होता है कि शास्त्र मे ही स्व-पर आत्मा का हित सम्भव है। अर्थात् ये महायोगी इन हितकारी शास्त्रीय बातो का ही उपदेश दे। शास्त्र निरपेक्ष रहकर, मात्र जन-अभिरुचि के अनुसार उपदेश न दें। लोगो की अभिरुचि शास्त्र विरुद्ध बातो की होती है, फिर भी ये महात्मा ऐसी बातो के उपदेश द्वारा लोकरजन न करे। अहितकारी उपदेश महायोगी कभी न दें।

अपना आत्महित भी शास्त्र के मार्ग दर्शनानुसार ही साधे। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे शास्त्र ने मार्ग दर्शन दे रक्खा है, बडी और छोटी सभी प्रवृत्तिया कैसे करें, शास्त्र ने बडी ही स्पष्ट और

सुन्दर विधि बताई है। योगी इसे जाने और जीए तथा सुपात्र को इसका उपदेश भी दे।

मोक्ष मार्ग की जिसे आराधना करनी हो, आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप जिसे प्रकट करना हो, उसे शास्त्र का आदर करना ही होगा। भले ही शास्त्र प्राचीन हो, परन्तु वे नित्य नूतन संदेश देते है। जिसे आत्महित करना है. उसके लिए तो शास्त्र के सिवाय अन्य कोई मार्ग ही नही। हाँ, जिसे सांसारिक जीवन जाना है, आत्मा, मोक्ष या परलोक का विचार नही, ऐसे विद्वान बुद्धिमान या राष्ट्रनेता भले ही शास्त्रों की परवाह न करे, भले ही शास्त्रों की उपेक्षा करे। उनके आदर्श भिन्न है, आपके आदर्श भिन्न है।

अतः मन, वचन, काया से शास्त्र की उपासना में लग जाये।

आश्विन शुक्ला ६
६-१०-१९७०

जसराज सिंघी
वरिष्ठ अध्यापक, पिंडवाड़ा

न परावर्तते राशेर्वक्रतां जातु नोज्झति ।
परिग्रहग्रहः कोऽयं विडम्बितजगत्त्रयः ॥१॥ १६३

श्लोकार्थ

जो राशि से पीछे फिरता नहीं है, कभी भी वक्रता छोडता नहीं है, जिसने तीनो लोक को विडम्बना दी है, ऐसा यह 'परिग्रह रूप' ग्रह कौनसा है ?

विवेचन

सौ–दो सौ, हजार दो हजार,

लाख–दो लाख...... करोड दो करोड़....... ?

अरब.......दस अरब........? बस, आगे अङ्क बढ़ता ही जाता है। पीछे घूम कर देखने की बात ही नही........'परिग्रह' नाम का ग्रह जिस जीव के जन्म नक्षत्र पर छाया हुआ है, उसकी छत्र–छाया मे तृष्णा और उसकी व्याकुलता देखी है क्या ? अगर आप स्वय इस पापी ग्रह के असर से दबे हुए हो तो आपको इसकी छत्रछाया मे ... तृष्णा या व्याकुलता का दु.ख दिखाई नही देगा। तूफानी नदी मे बहता हुआ मनुष्य दूसरे बहते हुए जीवो को देख नही सकता.... नदी के तट पर खडे हुए मनुष्य इन जीवो की विडम्बना, दु ख एवं असहाय अवस्था देख सकते है। 'परिग्रह' ग्रह के असर से मुक्त महापुरुष ही देख सकते है कि परिग्रह ग्रह के सर्वभक्षी असर मे जीव कितने छट-पटाते है।

धन–सम्पत्ति और वैभव के अनत शिखर पर आरोहण करने वाला या मथन करने वाले जीवो को करुणासिन्धु उपाध्यायजी कहते हैं कि हे जीव ! तू यह व्यर्थ पुरुषार्थ छोड़ दे।

आज दिन तक कोई मनुष्य या देव-देवेन्द्र भी इस भौतिक सम्पत्ति के शिखर पर पहुचा नही है क्योकि इसके शिखर पर पहुँचना सम्भव नही है यह अनत है। इस मन मोहक दिखने वाले शिखर के अरमान छोड दे। व्यर्थ मे दुख क्यो सहन करता है ?

और इस परिग्रह की धूतता तो देखो! जीव की इच्छा विरुद्ध ही चलता है। जिसको सम्पत्ति वैभव का बिलकुल ही मोह नही है उसके चारो तरफ से सम्पत्ति की वर्षा होती है और जो वैभव के लिए लालायित रहता है उससे यह करोडो कोस दूर रहता है। परिग्रह ही मानव की भव्य भावना को भस्म करता है विवेक को गायब कर देता है फिर देखिये इन मनुष्यो की धूर्तता यह सीधा चलता ही नही है।

किसी भी खगोल शास्त्री ने आज दिन तक तीनो लोक को अशान्त करने वाले 'परिग्रह' की खोज नही की इसके व्यापक असरो का कारण नही खोजा। इस 'ग्रह' को तो सिर्फ सर्वज्ञ परमात्मा ने ही देखा है और इसके असर की व्यापकता बताई है।

> असन्तोपमविश्वासमारम्भ दुखकारणम्।
> मत्वा मूर्च्छाफल कुर्यात् परिग्रह नियन्त्रणम्।।
>
> —योग शास्त्र

परिग्रह यानी मूर्छा लोभ लालच। इसका फल है असन्तोष, अविश्वास और आरम्भ। इन तीनो का फल है दुख, वेदना और अशान्ति। इसलिए परिग्रह का नियत्रण करना चाहिए।

त्रिभुवन को नचाने वाले इस दुष्ट ग्रह को निस्तेज किये

विना सुख शान्ति मिलना दुष्कर है। सगर चक्रवर्ती के करोड़ पुत्र थे ? कुचिकर्ण के असंख्य गायें थी ? तिलक श्रेष्ठि के अथाह धान्य था ? और मगध सम्राट नंदराजा के पास कितना स्वर्ण था ? तो भी क्या तृप्ति थी ? शान्ति थी ?

परिग्रह की वृत्ति द्रव्य का उपार्जन-संरक्षण और वढ़ाने की इच्छा कराती है। इन इच्छाओं से दूसरे पदार्थों में ममत्व दृढ़ होता जाता है। आसक्ति वढ़ती ही जाती है...... इससे एक तरफ धर्म क्रिया करने के वावजूद भी आत्म भाव निर्मल नही वनता है। तामस एवं राजस वृत्ति उमड़ती रहती है। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरिजी महाराज कहते हैं।

'दोपास्तु पर्वत स्थुला: प्रादुष्यन्ति परिग्रहे'

परिग्रह पर्वत के समान महान दोप पैदा करते है। परिग्रह से ओतप्रोत मनुष्य अपने पिता की भी हत्या कर देता है। परमात्मा एवं सद्गुरु की भी अवहेलना करता है......साधु सन्तो की हत्या करना......असत्य वोलना, चोरी करना आदि......।

धन-धान्य-परिवार-वगला-मोटर...... आदि परिग्रह है। आत्मा से भिन्न पदार्थों पर मूर्छा ममत्व परिग्रह है। परिग्रह का त्याग किये विना आत्मा शान्त-प्रशान्त नही वन सकती।

परिग्रहग्रहावेशाद् दुर्भापितरज: किराम् ।
श्रयन्ते विकृता: किं न प्रलापा लिङ्गिनामपि ॥२॥ १९४

श्लोकार्थ

परिग्रह रूपी ग्रह के प्रवेश होने से पवित्र साधु संतों के वेष धारण करने वालो में क्या विकार वाली वकवास सुनाई नही पडती है ?

विवेचन

धन-सम्पत्ति-बगला मोटर आदि मे खोये हुए, परिग्रह के रग मे रगे हुए गृहस्थ की बात छोड दे, परन्तु जिसने सब बाह्य परिग्रह का त्याग किया है, जिन्होने त्यागी मुनि का वेष धारण किया है, जिन्होने आत्मानन्द की पूर्णता का पथ पकडा है ऐसे जब परिग्रह के रग मे रगे हुए देखने को मिलते है तब क्या ज्ञान दृष्टि वाले पुरुष को खेद न होगा ?

मुनि और परिग्रह ? परिग्रह की गठरियो को सभालता हुआ मुनि, मुनि जीवन के कर्तव्यो से भ्रष्ट हो जाता है। पवित्र महाव्रतो के पालन मे शिथिल बन जाता है। जिन मार्ग की आराधना के आदर्श को कलकित करता है। अगर ज्ञान और चारित्र के विपुल साधनो के सग्रह करने के बाद भी मुनि यह समझते है कि वह उचित नही कर रहा है परिग्रह के पाप मे डूब रहा है, वह मुनि दूसरो को परिग्रह का मार्ग नही बतावे। वह परिग्रह के माध्यम से अपना गौरव गान न करे। उसका अनुकरण करते हुए दूसरे मुनियो को वह कहेगा, "महात्माओ इस जाल मे मत फसना मार्ग भ्रष्ट हो जाओगे मैं तो इसमे जकड गया हूँ मेरा अनुकरण करना योग्य नही है। आप निर्लेप रहिये आराधना के पथ पर आगे बढिये।"

परन्तु जो मुनि आतर निरीक्षण नही करता, अपने दोषो को नही देखता वह तो परिग्रह इकट्ठा करने वाला मजदूर बनने वाला है और दूसरो को भी परिग्रही बनने का उपदेश ही देगा। उसका उपदेश मार्गानुसारी नही है पर उन्मार्ग पोषक है। वे कहेगे 'हम तो सम्यग्ज्ञान एव सम्यग् चारित्र के साधन रखते हैं हम कहाँ कचन और कामिनी का सग करते है ?

फिर पाप किसका ? और जो हम रखते है उस पर हमें ममत्व कहाँ है ? ममत्व हो तो परिग्रह !' ऐसे अपना बचाव करेंगे और यह परिग्रह तो रख सकते है ऐसा उपदेश देंगे।

उपदेश देकर पुस्तके प्रकाशित करने के लिए लाखो रुपये इकट्ठे कर उस पर अपना अधिकार स्थापित करना, या अपने भक्त की तिजोरी मे वह रकम रखवाना क्या यह परिग्रह नहीं है ? हजारो पुस्तके खरीद कर उन पर अपना नाम लिखना.... या उस सग्रह का मालिक बनना, क्या यह परिग्रह नही है ? इतना ही नही इन सब कार्य कलापो पर गर्व करना और उससे अपनी महत्ता बताना क्या यह मुनित्व है ? पूज्य उपाध्यायजी महाराज ऐसे परिग्रही को 'वेषधारी' कहते हैं। सिर्फ परिधान मुनि के है पर आचरण गृहस्थ का। अपरिग्रह के उपदेश देने वाले ही परिग्रह के शिखर को फतह करने की प्रतिस्पर्धा करते हैं, तो कौन से ज्ञानी पुरुष का हृदय दु खी नही होगा ?

एक त्यागी महात्मा के पास एक श्रीमत भक्त गया, वदना करके महात्मा को कहा, 'मुझे एक हजार रुपये दु.खी लोगो को देने है...आपको जो उचित लगे उन्हे दीजिये।'

भक्त ने सौ सौ के दस नोट निकाल कर महात्मा के सामने रक्खे। महात्माजी ने कुछ क्षण भक्त की तरफ देखा और कहा— 'यह काम आप अपने मुनीम को सौपे। मैं मुनीम नही हूँ।' सेठ ने नोट जेब में रक्खे....क्षमा मांगी, और चले गये। हृदय में मुनि को धन्यवाद भी देने लगे।

मुनि जीवन मे भी इस तरह परिग्रह प्रवेश करता है....अगर इसमें सावधानी नही बरती जाये तो परिग्रह के पाप का असर बहुत ही बढ़ जाता है। श्री हेमचन्द्र सूरिजी महाराज ने कहा है—

तप श्रुतपरीवारां शमसाम्राज्यसम्पदम् ।
परिग्रह-ग्रहग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ।।
योग शास्त्र

परिग्रह का पापी ग्रह जब योगी पुरुषों को भी जकड लेता है तब तप, त्याग, ज्ञान ध्यान, क्षमा नम्रता आदि आभ्यन्तर लक्ष्मी को छोड देते हैं। इतना ही नही जैनमत के अपरिग्रहवाद को भौंडे रूप मे प्रकट करते है। क्या ऐसे वेषधारियों से अपना परिग्रह पर बचाव करते नही सुना ? उपमति' मे कहा है कि ऐसे प्राणी अनतकाल तक ससार मे परिभ्रमण करते है—

यस्त्यक्त्वा तृणवद् बाह्य मातरम् च परिग्रहम् ।
उदास्ते तत्पदाम्भोज पर्युपास्ते जगत्त्रयी ।।३।। १६५

श्लोकार्थ

जो तिनके की तरह बाह्य एव आभ्यतर परिग्रह को छोडकर उदासीन रहता है उसके चरण कमल की तीनो लोक सेवा करते है।

विवेचन

वे पवित्र पुरुष वदनीय हैं, पूजनीय हैं जो धन, सम्पत्ति, सोना, चाँदी, हीरा मोती आदि का त्याग करते है। वे महात्मा सेवनीय हैं जो मिथ्यात्व—अविरति, कषाय, गारव प्रमाद का त्याग करते है फिर निर्मोही और अहकार रहित बनकर पृथ्वी पर विचरण करते हैं। ऐसे त्यागी महापुरुष ही वदनीय ह। जिनकी वदन, भक्ति करने से कर्म क्षय एव दोषो का नाश होता है और गुण विकसित होते ह।

धन-सपत्ति आदि बाह्य परिग्रह है।
मिथ्यात्व अविरति आदि आभ्यतर परिग्रह है।

इन दोनो परिग्रहो को योगी तिनके के समान त्याग करते है। जिस तरह घर का कूड़ा कर्कट बाहर फेंकते समय उसे छोड़ने का गर्व नही होता है क्योकि वह तो फेंकने लायक ही वस्तु थी तो उस पर गर्व कैसा? कचरा समझ कर फेंके हुए पदार्थ पर आकर्षण नही होता है परन्तु बहुमूल्य समझ कर किसी पदार्थ को छोड़ने पर भी उस तरफ पुनः पुनः आकर्षण-ममत्व हुए बिना नहीं रहता है।

मैंने लाखो करोडो का वैभव छोड़ दिया है . विशाल परिवार का सुख छोड दिया...मैंने महान् त्याग किया है। अगर यह विचार आये तो समझिये कि परिग्रह का तिनके के समान त्याग नही किया है। इस तरह के त्याग के पीछे उदासीनता नही आती है, त्यागी अपने त्याग का कभी भी बखान नही करता है, मन में भी अपने त्याग को महत्व नही देता है।

शालिभद्र ने ३२ पत्नियों का और नित्य नई नई ९९ पेटियों का त्याग किया था . ममतामयी माँ का त्याग किया....यह तिनके के समान त्याग था .. इसलिए वैभारगिरि पर वंदन के लिए आये हुए अपनी माता व पत्नियों के सामने तक नही देखा.... उदासीनता को धारण कर सनत्कुमार ने चक्रवर्ती पद का त्याग किया....छः महिने तक पीछे-पीछे चलते हुए उनके माता पिता एव लाखो रानियो की तरफ पीछे मुडकर भी नही देखा! उदासीनता धारण कर आगे बढ गये।

बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ आभ्यतर परिग्रह का त्याग होना चाहिए, तभी उदासीनता आती है....निर्मम भाव प्रकट होते है। अगर आभ्यतर परिग्रह....मिथ्यात्व एव कषाय को नहीं त्यागा गया तो पुनः बाह्य परिग्रह की लालसा जागृत होती है। ....इतना ही नही, मानव जीवन के परिग्रह करते हुए अनत गुण

एव दैवी सुखो के परिग्रह को प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है।

मनुष्य. जीवन के सुखा को त्याग कर देवलोक के सुख प्राप्त करने के लिए चारित्र भी ले लेते हैं तो भी वह अपरिग्रही नही बनता है। आभ्यतर परिग्रह की गाठ वैसी की वैसी ही रहती है।

बाह्य—आभ्यतर परिग्रह का त्यागी निमम—निरहकारी बनकर आत्मानद की पूणता मे स्वय को पूरा समझते हैं। बाह्य पदार्था से पूरा होने की कभी भी इच्छा नही करता है। बाह्य पदार्थो का सयोग अपने स्वय के लिए अपूरा समझता है। इसलिए बाह्य पदार्थो का त्याग कर मन से भी इसके राग को नष्ट कर देते हैं।

बाह्य ३२ करोड स्वरा मुद्राय एव ३२ स्त्रियों के परिग्रह को तिनके के समान त्याग कर और आभ्यतर रागद्वेष को त्याग कर ध्यान मे मस्त धन्नाअरणगार की जब भगवान महावीर ने समवसरण मे प्रशसा की तब वहा बैठे हुए देव-देवेन्द्र, मानव, पशु पक्षी ऐसा कोई भी नही था कि जिसने धन्ना अरणगार को नमन न किया हो ? मगध सम्राट श्रेणिक तो वैभार गिरि के पत्थरो को लाघकर धन्नाअरणगार के दशनो के लिए दौड पडे, और इस महर्षि के दशन कर इनके चरणो मे अपना मस्तक झुका लिया। आज भी 'अनुत्तरोपपातिक सूत्र' मे इसके प्रमाण मौजूद है। बाह्य आभ्यतर परिग्रह के त्यागी इन अरणगार को तीनो लोक ने प्रणाम किया था और आज अपन भी करते हैं।

हृदय की परम शान्ति, आत्मा की पवित्रता और मोक्ष माग की आराधना परिग्रह त्याग पर अवलबित है। परिग्रह मे यातना, वेदना एव पाप का भडार है।

चित्ते ऽन्तर्ग्रन्थि गहने वहिर्निर्ग्रन्थता वृथा ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य भुजगो न हि निर्विषः ॥४॥ १६६

श्लोकार्थ

अंतरग परिग्रह से अगर मन व्याकुल है तो वाह्य संसार त्यागी मुनि जीवन भी व्यर्थ है क्योकि केचुलिमात्र छोडने से सर्प विप रहित नही होता है ।

विवेचन

भले ही आपने वस्त्र परिवर्तन किया, घर त्याग कर उपाश्रय मे वास किया, केश मु डन करा कर केश लु चन कराने लगे, धोती या पेन्ट पहनना छोड़कर 'चोल पट्टक' पहनने लगे, जूते छोड़कर नगे पैर चलने लगे परन्तु इससे मन की व्याकुलता, विवशता या अस्थिरता दूर नही होगी ।

तो क्या करना चाहिए ?

आभ्यतर परिग्रह को त्याग कर पुरुपार्थी वनिये । जो परिग्रह आपने त्याग किया उसको याद कर उसके रागी न वनो । त्याग किये वाह्य परिग्रह से उच्चकोटि के परिग्रह को प्राप्त करने के लिए उतावले न वनो तो ही मन प्रसन्न एव पवित्र वना रहेगा । जव तक अतरग रागद्वेप एवं मोह ग्रन्थि का छेदन नही होगा, भौतिक पदार्थो का हृदय से आकर्पण खत्म नही होगा तव तक मन की स्वस्थता आ ही नहीं सकती । आतरिक मलिन इच्छाओ का सग्रह–परिग्रही मन को हमेशा रोगी ही रखता है ।

'इस अतरंग परिग्रह का त्याग तो कठिन है ?'

इसके त्याग किये विना वाह्य निर्ग्रन्थ-वेश वृथा है । भले ही सर्प अपनी कंचुली उतार देता है परन्तु जव तक वह कंचुली के साथ साथ विप को नही छोड़ता तो वह विपरहित नही वनता

आपने बाह्य वेश एव बाह्य आचरण मे परिवर्तन किया परन्तु सिर्फ इतने से क्या ? क्या आप उस लक्ष्मणा साध्वी का नाम नही जानते है।

प्राचीन काल की बात है। राजकुमारी लक्ष्मणा ने समग्र ससार के परिग्रह को छोड दिया। भगवान के आर्या सघ मे साधना आरभ की। कैसी अद्भुत साधना ! ज्ञान एव ध्यान का समन्वय किया। विनय एव वैयावृत्य की सवादिता-साधना की। एक दिन इनकी दृष्टि चकवा एव चकवी के जोडे पर पडी जोडा मैथुन क्रिया मे मस्त था वह विचारने लगी 'भगवन् ने मैथुन का सर्वथा निषेध किया है वे स्वय विकार रहित हैं उन्हे विकारी जीवो के सभोग सुख का अनुभव कहा है ?'

सभोग सुख के अतरग परिग्रह से लक्ष्मणा साध्वी का हृदय विचलित हुआ। मैथुन क्रिया के देखने से सभोग सुख के परिग्रह की कामना जाग्रत हुई। इस परिग्रह को त्याग करने के उपदेश देने वाले तीर्थंकर भगवत भी अज्ञानी लगे।

क्षण दो क्षण के बाद लक्ष्मणा स्वस्थ हुई अरे रे मैंने यह क्या विचार किया ! भगवत तो सर्वज्ञ हैं जगत की कोई भी वस्तु इनकी अजानी नही है यह सब जानते हैं मुझ दुर्भागिनी ने गुरुदेव के लिए ऐसा अनुचित विचार किया ।

उसने भगवत के समक्ष प्रायश्चित करने का विचार किया एक कदम आगे बढी और रुक गई 'प्रायश्चित करने के लिए मुझे मेरे मन के विकार प्रभु को कहने पडेंगे मेरे लिए समवसरण मे बैठे हुए अन्य जन क्या विचार करेंगे ! लक्ष्मणा इतने नीच विचार करने वाली है ! नही, नही, मैं प्रायश्चित स्वय ही कर लूंगी भगवान को पूछूंगी कि, 'प्रभु ऐसे विचार करने वाले को क्या प्रायश्चित लेना पडता है ! मैंने ऐसा विचार

किया, इसका क्या प्रायश्चित है ! ऐसा नही पूछूँगी।

ऐसे दूसरे अतरग परिग्रह ने उसका मन डावाडोल कर दिया.. चित्त चचल बन गया। 'माया' यह अंतरंग परिग्रह है। भले ही उसने अपना पाप स्वमुख से स्वीकार नही किया तो भी आज हजारो साल व्यतीत होने के बाद भी अपन को यह पाप जानने को मिला। कैसे ? सर्वज्ञ वीतराग से कोई भी बात छिपी नही रह सकती है। लक्ष्मणा संसार की योनियों में भवभ्रमण कर रही है। यह है अतरग परिग्रह की लीला।

बाह्य परिग्रह को त्याग करने के बावजूद भी अगर अंतरग परिग्रह की गाठ रह गई तो ससार परिभ्रमण के सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नही है। इसलिए यहाँ उपाध्यायजी ने कहा है कि अगर तुम्हारा मन अतरंग परिग्रह से व्याकुल है तो बाहर का साधु वेष आदि सब व्यर्थ है, अर्थहीन है ...। ऐसा कहकर साधु वेष छोड़ने के लिए नही कहते है, परन्तु अतरंग परिग्रह को त्याग करने की भव्य प्रेरणा देते है।

त्यक्ते परिग्रहे साधो. प्रयाति सकलं रजः।
पालित्यागे क्षणादेव सरसः सलिलं यथा ॥५॥ १६७

श्लोकार्थ

परिग्रह का त्याग करने से साधु का सर्व पाप क्षण मात्र मे चला जाता है। जैसे दीवार टूटते ही सरोवर का पानी चला जाता है।

'विवेचन'

लबालब भरे हुए सरोवर के पानी को निकालना है, तो उसकी दीवार तोड़ दो ? सरोवर पानी रहित बन जायेगा। दीवार तोड़नी नही और सरोवर खाली करने की बात करना, यह कैसे सभव हो ?

आपके आत्म सरोवर मे भरे हुए पाप रूपी पानी को निकालना है ? तो परिग्रह की दीवार तोड दे ! अवश्य, तोडनी ही पडेगी, इसके सिवाय दूसरा कोई रास्ता नही है। मैं जानता हूँ कि आपने इस दीवार को बाधने के लिए रात दिन महनत की है, सयम और स्वाध्याय को त्यागकर इस दीवार को बाधने मे आपने अपना सवस्व लगा दिया है। महाव्रतो को कलकित कर इस दीवार के सौदय को निखारा है। पर मैं कहता हूँ कि आप इस दीवार को तोड दें। इसके बिगर आत्म सरोवर मे भरा हुआ पाप का पानी बाहर नही निकलेगा।

इस रमणीय परिग्रह की दीवार पर बैठ कर नयन रम्य स्त्री कथा, सुस्वादु भोजन, देश तथा राजतन्त्र आदि की बातें करने मे आपको आनन्द आता है, भोले निरपराधी जीवो के सम्मान मे ठेस पहुँचाने मे लीन हो आप इस परिग्रह की दीवार पर जमे हुए हो और खुशामदियो के बीच आप अपने को महान् समझ रहे हो। परन्तु यह याद रक्खें कि अगर दीवार से आप फिसल गये तो अगाध पाप रूपी जल मे समाधि लेनी पडेगी वहाँ बैठे हुए खुशामदियो मे से कोई भी इस अगाध जल से आपको बाहर निकालने के लिए पानी मे नही कूदेगा।

परिग्रह की दीवार पर अलख लगा कर बैठे हुए आप, वहाँ के शाश्वत नियम को जानते हैं ? दीवार पर बैठ कर पानी को तोडने का प्रयत्न नही करते है तो वह अगाध पाप, जल मे फैल जाता है भले ही आपका वेष त्यागी का हो, भले ही आपका उपदेश वैराग्य का हो, आपकी क्रियाएँ जिन मार्ग की हो, लाखो भक्त आपकी जयजयकार करते हो, आँखे बन्द कर आप पद्मासन करते हो या घोर तपश्चर्या करते हो परन्तु अगर ये सब परिग्रह की दीवार पर बैठकर ही करते हैं, तो आत्मा

को कोई लाभ नही....आखिर आप दीवार पर से गिरने वाले हैं और अगाध पाप रूपी जल में डूब मरने वाले हैं।

परिग्रह की दीवार पर बैठ कर आप संसार को अपरिग्रह का उपदेश देते हैं? आप खुद इस दीवार को तोड दीजिये.. पाप का पानी बहा दो... क्या आपको इस दीवार पर बैठ कर दुर्गन्ध नही आयेगी? शायद, इसके आदी हो गये हो। आप इस जगह बैठकर साधुत्व को क्यों लज्जित करते है? हाथ मे कुदाली व फावड़े लेकर परिग्रह के पाल को तोड दो! पूर्ण उत्साह से उस पर पिल पडो।

जब दीवार टूट जायेगी...पाप का पानी बह जायेगा.... तब आप निर्मल, आत्म सरोवर के किनारे खड़े होकर कोई अलग ही अनुभूति करेंगे। आप को महसूस होगा कि अब तक परिग्रह में संयम का अमृत सूख गया था और हृदय का केसर से सुवासित महाव्रतों का बगीचा किसी ने उजाड़ दिया था। आंखों के सामने किसी ने अंधेरा फैला दिया था। साधना आराधना का खिलता हुआ बाग नष्ट कर दिया था और जगह जगह सिर्फ ठूंठ ही रह गये थे। परिग्रह के पाप से सर्वविरति जीवन के सम्बन्ध टूट गये थे। विरक्ति के भेष में आसक्ति का जाल बनाया था।

परिग्रह के पाप से ही तो साधु, महाव्रतो का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित होते है। परिग्रह का ममत्व ही तो इन्हें क्रोध, कषाय, रस, ऋद्धि, शाता आदि का उपभोग करने के लिए उत्साहित करता है। जहा परिग्रह को छोड दिया वहाँ क्रोध, कषाय आदि स्वतः ही शान्त हो जायेगे। गारव से घृणा हो जायेगी। ...महाव्रतो के पालन में स्थिरता एवं दृढ़ता आजायेगी।

जब आप कुटुम्ब, परिवार, धन सम्पत्ति, एवं दूसरी अनेक सुख सुविधा छोड़ कर श्रमण (साधु) बने हैं तो अब साधु जीवन में मामूली परिग्रह छोड़ने में हिचक क्यों ? समुद्र पार करने पर किनारे आकर डूबने की गलती क्यों ? इसलिए परिग्रह की दीवार को तोड़ दो, आत्म सरोवर से पाप का पानी बह जायेगा फिर आप निर्मल बन जावेंगे ।

त्यक्तपुत्र कलत्रस्य मूर्च्छामुक्तस्य योगिन ।
चिन्मात्रप्रतिबद्धस्य का पुद्गल नियंत्रणा ॥६॥१९८

श्लोकार्थ

जिसने पुत्र और स्त्री का त्याग किया है, जो ममत्व रहित हैं और सिर्फ ज्ञान में ही लीन हैं ऐसे योगी को पुद्गल का व्यापार क्यों हो ?

विवेचन

करुणा जगाने वाला—भौतिक सुखों से लापरवाह योगी क्या किसी का बन्धन स्वीकार करता है ? वह तो बन्धन रहित होकर आत्म ज्ञान में लवलीन रहता है ।

योगी ! तेरे योग को नमस्कार । योग पर भोग की सेवाल तो नहीं जम गई है ? योग के ऊपर भोग के भूत ने तो अधिकार नहीं जमाया है ? नहीं तो तेरे किये हुए त्याग निष्फल जावेंगे । सुन्दर स्त्री, पुत्र-पुत्री, धन्धा व्यापार, गद्दी तकिया, कोमल गुदगुदे सुखासन बिस्तर आदि सब सुख त्याग दिया, अब तुम्हारे लिए यह कैसा है ऐसा कोई नहीं है ? तूने सब ममत्व को तोड़ दिया है—इस पर अब किसी भी जड़ चेतन पदार्थ का अधिकार नहीं हो सकता ।

हे योगी ! तेरी आत्मा उज्ज्वल हो गई है इसलिए परिग्रह के बन्धन को त्याग कर फेंक दिया है । अब तुझ पर पुद्गल का अधिकार नहीं हो सकता है द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव का

विवेचन

दीपक,

पात्र मे घी भरा हुआ है, रूई की बत्ती है। प्रकाश झलझलाता है। पवन का कोई झोंका नही, तो ज्योति बुझने का अदेशा नही। यह स्थिर है और प्रकाश फैल रहा है।

तत्वज्ञानी महर्षि एवं दार्शनिकों ने ज्ञान को दीपक की उपमा दी है। जिस तरह स्थूल जगत में दीपक के प्रकाश की आवश्यकता रहती है उसी तरह आत्मा के सूक्ष्म प्रदेश में ज्ञान दीपक की आवश्यकता रहती है। परन्तु निद्रा में मनुष्य जैसे प्रकाश नही चाहता है उसी तरह मोह निद्रा मे ज्ञान का प्रकाश भी नही चाहता है। अज्ञान के अधकार में मोह निद्रा फलती फूलती है।

दीपक स्थिर हो, उसमे घी या तैल हो एवं शान्त पवन रहित जगह पर हो तो उसकी ज्योति प्रकाश फैला सकती है। ज्ञान दीपक के लिए भी ये शर्ते अनिवार्य है।

ज्ञान दीपक का घी-तैल तो सुयोग्य भोजन है।

ज्ञान दीपक का पवन रहित स्थान धर्म के उपकरण है।

हां, ज्ञानोपासना लगातार चलती रहे, धर्म ध्यान और धम चितन निराबाध गति से होता रहे, इसलिए आप घटिया और जीर्णशीर्ण श्वेत वस्त्र पहनते हो तो यह परिग्रह नही है। सतत स्वाध्याय को चालू रखने के लिए अगर आप वस्त्र, पात्र ग्रहण करते है तो यह परिग्रह नही है। वस्त्र, पात्र धर्म साधन आदि ग्रहण करने मे और धारण करने के लिए दो शर्ते है—

(१) निःस्पृह वृत्ति से ग्रहण करना।
(२) ज्ञान दीपक को जलते रखना।

भले ही दिगम्बर कहे कि 'तुम परिग्रही हो ज्ञान से ओतप्रोत मुनि को वस्त्र नही पहनने चाहिए और पात्र नही रखने चाहिए' इस विधान मे उनका यह तर्क है कि वस्त्र पात्र ग्रहण करना या धारण करना मूर्छा के कारण होता है।

इनके कहने से न तो अपन परिग्रही बन सकते है और न वे अपरिग्रही हो सकते है। वस्त्र पात्र ग्रहण करने मे मूर्छा ही होती है तो भोजन करने मे मूर्छा क्यो न हो? क्या भोजन राग द्वेष का निमित्त नही है? क्या कमडलु और मोरपख रखने मे परिग्रह नही है? हा, शरीर भी परिग्रह है? दिगम्बर मुनि भोजन करते है, कमडलु और मोरपख रखते है कडकडाती सर्दी मे घास मे भरी हुई पेटी मे गहरी नीद लेना, क्या यह शरीर की मूर्छा नही कही जायेगी? असयमी ससारी जीवो को औषधि आदि बताना क्या यह अपरिग्रह का लक्षण है?

हे मुनिवरो, जो आप शास्त्र मर्यादा मे रहकर चौदह प्रकार के धर्म उपकरण ग्रहण करते हो, जिसमे आपका ज्ञान दीपक अखड रहता है तो आप परिग्रही नही हैं। सिर्फ नग्न रहने से अपरिग्रही और वस्त्र पहनने से परिग्रही नही बन सकते हैं। गलियो मे भटकते हुए कुत्ते भी नग्न रहते हैं? क्या उन्हे अपरिग्रही मुनि कहेगे? और दशहरे मे घोडे को बहुत सजाया जाता है तो क्या घोडे को परिग्रही कहेंगे? न तो कुत्ता मूर्छा रहित है और न घोडे को शृगार से मूर्छा है।

ज्ञान दीपक बुझ न जाये, यह लक्ष्य है। ज्ञान दीपक को सतत जलता रखने के लिए अगर आप शास्त्रीय उत्सर्ग-अपवाद का मार्ग लेते हैं तो भी आप निर्दोष हो। परन्तु लेशमात्र भी आत्म वचना न हो, इसके लिए सतर्क रहे। एक तरफ यह विचार करें कि मैं शास्त्र का अध्ययन करने के लिए वस्त्र पात्र

आदि ग्रहण करता है तो दूसरी तरफ यह भी सोचे कि वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करने मे मूर्च्छा ' आसक्ति गहरी बन रही है। जैसे-जैसे आपकी ज्ञानोपासना बढ़ती जाती है वैसे ही पर पदार्थो का ममत्व घट जाता है तो इस ज्ञान दीपक द्वारा आपका जीवन मार्ग प्रकाशमान हुआ है, ऐसा कहा जायेगा।

एक मात्र ज्ञानोपासना।

कोई दूसरी बाह्य प्रवृत्ति नही तो मन को भटकने के लिए कोई स्थान नही ...... ज्ञानोपासना मे ही लवलीनता। फिर भले ही शरीर पर पदार्थो को ग्रहण करे या धारण करे। आत्मा पर उसका क्या असर ?

मूर्च्छाछिन्नधिया सर्वजगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छारहिताना तु जगदेवापरिग्रह. ॥८॥ २००

श्लोकार्थ

मूर्च्छा से जिसकी बुद्धि ढकी हुई है उनको सम्पूर्ण संसार परिग्रह रूप है, परन्तु मूर्च्छा रहित के लिए ससार भी अपरिग्रह रूप है।

विवेचन

परिग्रह–अपरिग्रह की कितनी मार्मिक व्याख्या की है ? कितनी स्पष्ट और निश्चित। इस ससार में ऐसी कौनसी वस्तु है जिसको अपन पूर्णरूपेण परिग्रह या अपरिग्रह रूप कह सकते है ? मूर्च्छा परिग्रह, अमूर्च्छा अपरिग्रह। सयम साधना में सहायक पदार्थ अपरिग्रह और सयम आराधना मे बाधक पदार्थ परिग्रह है।

पर–पदार्थो का त्याग किया। धन-सपत्ति, बगला, मोटर

ग्रादि छोडकर साधु बने, शरीर पर वस्त्र भी नही और भोजन के लिए पात्र भी नही, इससे ग्रापने म न लिया कि मैं ग्रपरि-ग्रही बन गया' भले ही ग्रापकी बात क्षण भर मान भी ले तो भी ग्रापसे पूछता हूँ कि त्यागे हुए पदार्थो के प्रति ग्रापको राग द्वेष होता है कि नही ? कभी त्याग किये हुए पदाथ ग्रापको सताते है या नही ? ग्ररे, शरीर भी तो पर पदाथ ही है ? क्या शरीर रोगग्रस्त होता है तो शरीर ममत्व जाग्रत नही होता है ? शरीर का तो त्याग किया नही। पर भव का भी त्याग किया नही, ग्रब ग्राप गभीरता से विचार करें कि वास्तव मे ग्राप ग्रपरिग्रही बने हैं ? स्थूल दृष्टि से विचार न करें पर सूक्ष्म दृष्टि से चिंतन करने से परिग्रह ग्रपरिग्रह की व्याख्या स्पष्ट समझ जायेंगे।

महात्मन्! ग्रो निर्मोही निर्लेप मुनिराज ग्रापको तो परिग्रह का स्पर्श किया हुग्रा पवन भी नही छूना चाहिए। परिग्रह के पहाडो को सर पर उठाकर घूमने वाले धनवान ग्रापको प्रदक्षिणा देकर पलायन होने के लिए तत्पर होते हैं ग्रापको न तो परिग्रह का ग्राग्रह है ग्रौर न भौतिक—सासारिक पदार्थो की रचमात्र भी स्पृहा है। ग्रापने जो मन, वचन, काया से परिग्रह का त्याग किया है तो इस परिग्रह का मूल्य ग्रापके हृदय मे बिल्कुल नही होना चाहिए ग्रौर जो बाह्य दृष्टि से परिग्रह रूप दिखता है, जैसे ग्रापके शरीर को ढकने वाले वस्त्र, भिक्षा पात्र एव स्वाध्याय की पुस्तको पर ग्रापको ऐसा ग्राग्रह नही है तो ग्राप ग्रतरग दृष्टि म सयम के उपकरण मे भी निर्लेप है।

रास्ते मे भटकते भीख माग कर निर्वाह करने वाले, व्यसनो से भरे हुए भिखारियो को देखा है, जिनके पास परिग्रह

कहने लायक कुछ नही है……अगर कहा जाये तो फटा पुराना कमीज और दुर्गंधयुक्त कपडा…… ! और ज्यादा कहना हो तो अत्यन्त हीन दयनीय दशा दिखाकर पैदा की हुई कुछ रेजगारी। जिसे आप 'परिग्रह' कह सके ऐसा वास्तव में क्या दिखता है ? क्या आप उसे अपरिग्रही महात्मा, निर्मोही-निर्लिप्त संत कहेगे ? नही कदापि नही।

क्यो ?

क्योंकि उसे तो 'जगदेव परिग्रह' है। उसकी महत्वाकाक्षायें पूरे संसार पर छा गई है। समस्त संसार ही उसका परिग्रह है। समार की सर्व संपत्ति पर उसने मन से ममत्व किया है।

आपके पास क्या है और क्या नहीं इस पर परिग्रह और अपरिग्रह का निर्णय न करे। आप क्या चाहते है और क्या नही चाहते उस पर परिग्रह और अपरिग्रह का निर्णय करें। हां, आप अपने तप, दान, चारित्र पालन आदि से क्या चाहते है ? यदि आप देवलोक का इन्द्रासन या मनुष्य लोक में चक्रवर्ती पद चाहते हैं, स्वर्ग की अप्सराओ से आमोद-प्रमोद या इस संसार की चन्द्रमुखियों के स्नेहालिगन चाहते है, तो आप अपरिग्रही कैसे हुए ?

दूसरी तरफ असख्य लावण्यमयी ललनाओं से घिरे हुए, अपार वैभव के स्वामी मणियों से झलझलाता सिहासन, रत्नो से जडित खभो वाला महल, वहुमूल्य वस्त्र एवं अलंकारों के होते हुए भी 'नाह पुद्गल भावानां कर्ताकारयितापि च' इस भाव से ओतप्रोत है, जो त्याग-सयम के लिए वेचैन है, जो चार गति के सुखों से निर्लेप है, जिसकी दृष्टि मे लोहा व सोना समान है, जो सोने को मिट्टी से ज्यादा महत्व नही देता है,

जिसको शिव, अचल, अरुज, अनत, अक्षय, अव्याबाध मोक्ष के सिवाय दूसरी कोई इच्छा नही, क्या आप उसे परिग्रही कहेंगे ? जिसको कोई मूर्छा नही उसे परिग्रही नही कह सकते हैं और जिनको अनत तृष्णा है उसे अपरिग्रही नही कह सकते हैं इसलिए बुद्धि पर चढी हुई मूर्छा रूपी चमडी का आपरेशन करके बुद्धि को मूर्छा से मुक्त करें फिर पूर्णता का पथ प्रशस्त होगा। प्रयाण तीव्र बनेगा। आपका हृदय कमल पूर्णानन्द से छल छलायेगा।

———

ओं ह्रीं अर्हं नमः

२६. अनुभव

यह कोई संसार के खट्टे मीठे अनुभवों का संस्मरण नहीं है। यह कोई सामाजिक, राजनीतिक अनुभवों का अध्याय नहीं है। यहाँ तो आत्मा के अगम अगोचर अनुभवों की बात है। जो अनुभव अब तक नहीं कर सके हैं···उसी अनुभव को जानने के लिए यहाँ मार्गदर्शन है, प्रेरणा–प्रोत्साहन है। आत्मा के परमानन्द का अनुभव अगर जीवन में एक बार भी हो जाये तो बस ! मोक्ष सुख का आभास भाग्यहीनों के भाग्य में कहाँ ?

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्या केवलश्रुतयो पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्ट केवलार्करूणोदय ॥१॥ २०१

श्लोकार्थ

जिस तरह दिन और रात्रि से सध्या अलग है उसी तरह केवल ज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न केवलज्ञान रूप सूय के अरुणोदय समान अनुभव है, ऐसा ज्ञानियो का कहना है ।

विवेचन

यहा इस अनुभव की बात नही है जिसको कई बार लोग कहते हैं 'मेरा यह अनुभव है अनुभव की बात कहता हूँ '। ऐसा कहने वाला मनुष्य भूतकाल मे अपने जीवन मे घटित घटनाओ को 'अनुभव' कहता है । सामान्य लोगो की बुद्धि न समझ सके ऐसे अनुभव की बात ग्रथकार ने की है ।

एक समय मुझे एक सद् गृहस्थ मिले । सात्विक प्रकृति के थे, प्रतिदिन ध्यान' भी करते थे उन्होने मुझे कहा

' मुझे ध्यान मे कई तरह के अनुभव होते है ।" ' कैसे कैसे अनुभव होते है ? ' मैंने पूछा । 'अरे, कभी तो लाल लाल रग ही दिखाई देता है कभी श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति दिखाई देती है कभी मैं अनजाने प्रदेश मे पहुँच जाता हूँ ' उसने कहा और उसने ध्यानावस्था मे जो विचार उठे सिद्धान्त हीन को 'आत्मानुभव' कह कर वर्णन किया ।

ऐसे अनुभवो से यहा ग्रथकार का अभिप्राय नही है ।

पहले तो 'अनुभव ज्ञान ग्रन्थकार स्पष्ट करना चाहते है । उसको समझाने के लिए कहते है

आपने संध्या देखी है ? संध्या को आप दिन कहेगे या रात्रि ? नहीं, दिन और रात से संध्या अलग है.......इसी तरह अनुभव 'श्रुतज्ञान या केवलज्ञान' नही है। उनसे अलग ही है.... हाँ, केवलज्ञान से अत्यन्त निकट जरूर है। जैसे सूर्योदय के पहले अरुणोदय होता है वैसे ही अनुभव को अपन केवलज्ञान रूपी सूर्य के पहले का अरुणोदय कह सकते है। अर्थात् वहाँ मतिज्ञानावरण के क्षयोपक्षम से उत्पन्न हुए चमत्कार नही....... बुद्धि ...मति की कल्पना-सृष्टि नही.......शास्त्र ज्ञान के अध्ययन ....चितन.......मनन से पैदा हुए रहस्यों का ज्ञान नही है। 'मेरी वुद्धि मे यह विचार आता है........' या उस शास्त्र में इस प्रकार कहा है........ 'अथवा मुझे तो उस शास्त्र का यह रहस्य समझ में आता है........' यह सब अनुभव की सीढ़ी पर है........ अनुभव तर्क से बहुत ऊँचे आसन पर है। अनुभव शास्त्रों के ज्ञान से दबा हुआ नही है.......और अनुभव वुद्धि या शास्त्र से समझ में आवे ऐसा भी नही है........ ।

जब किसी को अनुभव की बात तर्क से समझाने की कोशिश करते है तो समझाने में वुद्धि-मति ज्ञान और तर्क.. ....शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है.......परन्तु अनुभव सबसे ही अलग है.......अगर सच कहा जाये तो अनुभव समझाने की वस्तु ही नही है।

'यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धि—परभावारमण—तदास्वादनैकत्वमनुभव.।'

भगवान हरिभद्रसूरिजी ने अनुभव का स्वरूप बताते हुए कहा है

(१) यथार्थ स्वरूप का ज्ञान।

(२) पर भाव मे अ-रमणता।

(३) स्वरूप रमण मे तन्मयता।

समार की वस्तुएँ जिस रूप मे हैं उसी स्वरूप मे ज्ञान होता है ज्ञान मे राग द्वेष नही होता है। आत्मा से भिन्न पदार्थों की रमणता न हो इस योगी को तो आत्म स्वरूप की ही रमणता होती है उसका शरीर इस दुनिया की स्थूल भूमिका पर बैठा हुआ होता है परन्तु आत्मा ससार की सूक्ष्म से सूक्ष्म भूमिका पर आरूढ होता है।

सक्षेप में, परन्तु अत्यन्त गभीर शब्दो मे अनुभवी आत्मा की स्थिति का वर्णन है। स्वरूप मे रमणता अपन नही कर सकते क्योकि परभाव की रमणता मे डूब गये हैं परभाव की रमणता अर्थात् वस्तु स्वरूप के अज्ञान का आधार है। जैसे जैसे वस्तु स्वरूप का अज्ञान दूर होता जाता है वैसे वैसे ही आत्म रमणता आती है और परभव का भ्रमण कम होता जाता है। अनुभव ऊर्द्ध्वगामी गति आरम्भ होती है, यह शाश्वत परम ज्योति मे विलय होने के लिए गहरी तत्परता प्रगट करता है तब जीवन की जडता को भेद कर अनुभव के आनन्द को वरण करने का अप्रतिम साहस प्रकट होता है तब अज्ञान से मिमक्ती चेतना ज्ञान ज्योति की किरणो का प्रमाद प्राप्त कर परम तृप्ति अनुभव करेगी।

व्यापार सर्वशास्त्राणा दिक्प्रदशन एव हि।
पार तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधे ॥२॥ २०२

श्लोकार्थ

सर्व शास्त्रो का उद्यम दिशा वताना ही है परन्तु सिर्फ अनुभव ही समार समुद्र को पार कराता है।

विवेचन

कितना कर्कश कोलाहल हो रहा है। शास्त्रार्थ और शब्दार्थ के एकांत आग्रह के कारण हलाहल से भी अत्यन्त तेज जहर फैला हुआ है.......इस विष की फूत्कारों से मणिधर सर्पराज की फूत्कारें भी फीकी लगती है........। कोई कहते है कि हम ४५ आगम मानते है। कोई कहते हैं, 'हम ३२ आगम ही मानते है........' और कोई कहते हैं कि 'हम एक भी आगम को नहीं मानते........।

कैसा भयंकर प्रलाप? पर क्यों? क्या इन शास्त्रों को मानने से भवसागर तिर जायेगे? क्या ये शास्त्र हमको निर्वाण दिलायेंगे? अगर शास्त्रों से ही भवसागर पार कर सकते है तो अपन आज दिन तक संसार मे भटकते न होते....क्या अतीत में अपन कभी भी शास्त्रों के ज्ञाता नहीं हुए होगे? अरे, नौ नौ 'पूर्व' का ज्ञान प्राप्त किया था....तो भी पूर्वों का ज्ञान (शास्त्र ज्ञान) हमको तिरा न सका। क्यों? कभी विचार किया है? फिर क्यो शास्त्रो के लिए कोलाहल करके अशान्ति फैलाते हो? शास्त्रों का भार गले पर बांध कर क्यों भव सागर में डूब मरने की चेष्टा करते हो? शास्त्र आपको अनंत–अव्याबाध सुख नहीं दे सकता है।

यह शास्त्रो की अवहेलना न समझे और शास्त्रों की पवित्रता का अपमान न समझे पर शास्त्रों की मर्यादा का भान कराने के लिए ऐसा कहता हूँ। शास्त्रों पर ही पूरे आश्वस्त होकर बैठे हुए से अपनी जड़ता भगाने के लिए ऐसा कहता हूँ।

शास्त्र? इसका काम सिर्फ दिशा बताने का है। यह आपको

सही या गलत दिशा का भान कराते है   बस, शास्त्र इससे
आगे एक कदम भी नही बढता है ।

शास्त्रो के सरजाम एव उपदेश अपनी आत्म भूमि पर
अच्छी तरह छा जाते हैं, परन्तु विषय कषाय के धधकते गोले
क्षण मात्र मे ही शास्त्रो के सरजाम की धज्जिया उडा देते है ।
इसके दृष्टात खोजने जाने की आवश्यकता नही है   निगोद
मे पछाड खाकर पडे हुए कोई चौदह पूर्वधर को पूछे कि उनका
सर्वोत्कृष्ट शास्त्र ज्ञान उन्हे क्यो नही बचा सका ? विषय
कषाय की तुनकमिजाजी से छूटे हुए तीखे बाण जब छाती को
चीर देते हैं   तब शास्त्रो का कवच खोखला हो जाता है
इसलिए धर्मो मे जूझने के लिए सिर्फ शास्त्र लेकर, इसके
विश्वास पर निकल जाने से आपको जिदगी भर पश्चाताप
करना पडेगा कि धोखा हुआ है । इसलिए ग्रथकार पहले ही
स्पष्ट भाषा मे कहते हैं "शास्त्र तो आपको सिर्फ दिशा ज्ञान ही
करा सकते हैं ।"

फिर हमको भवसागर से कौन तारेगा ? चिंता न करे ।
'अनुभव' आपको भवसागर से तारेगा । इस 'अनुभव' तक
पहुचने का मार्ग शास्त्र बतायेगा ? कोई मन कल्पित मार्ग पर
चले गये तो 'अनुभव' के पास नही पहुच सकोगे और कोई
मानसिक भ्रमणा को अनुभव समझ कर कृतकृत्य हो जाओगे
तो इससे आत्मा की कोई उन्नति नही होगी । दिशा ज्ञान तो
शास्त्रो से ही प्राप्त करें । जैसे-जैसे आप अनुभव के शिखर पर
चढेंगे वैसे-वैसे ही आपकी पर-परिणति निवृत्त होती जायेगी,
पर-पुद्गल का आकर्षण कम हो जायेगा । आत्मा रमणता मे छल-
छला उठेगी । आत्म-परिणति का मदमाता मौसम खिल उठेगा

......तब यथार्थ वस्तु स्वरूप का अवबोध रूप 'अनुभव' का शिखर आप फतह करेंगे।

इस शिखर पर चढ़ने की शिक्षा लिए बिना, सिर्फ भावना से प्रेरित होकर ही चढ़ने गये तो आगम-निगम के इन पहाड़ों की खाइयों में गिर पड़ेंगे......खोजने पर भी नहीं मिलेंगे इसलिए पूर्वाभ्यास जरूरी है। अध्ययन करना जरूरी है। फिर साहस कर अनुभव-शिखर पर आरोहण करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी।

इच्छा है ?

नहीं। इच्छा से नहीं चलेगा। संकल्प शक्ति भी आवश्यक है। दृढ़ संकल्प करना पड़ेगा। साधना के मार्ग पर लोह हृदय किये बिना नहीं चलता। विघ्नों को कुचलने के लिए दाँत भींच कर आगे बढ़ो आभ्यंतर विघ्नों की शृंखलाओं को तोड़ दो.... कमर ही तोड़ दो जिससे वापिस बैठ कर विघ्न मार्ग में बाधा उपस्थित न करे। इतनी निर्भयता एवं उत्साह के बिना अनुभव का शिखर लांघने की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं विना।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥:॥ २०३

श्लोकार्थ

इन्द्रियों के अगोचर परमात्मस्वरूप विशुद्ध अनुभव के बिना शास्त्रों की सैकड़ों उक्तियों से भी जानने योग्य नहीं है, ऐसा पंडितों ने कहा है।

विवेचन

शुद्ध ब्रह्म !

विशुद्ध आत्मा !

पाचो इद्रियो मे यह सामर्थ्य नही है कि वे शुद्ध ब्रह्म को जान सकें। किसी भी आवरण से रहित विशुद्ध आत्मा का अनुभव करने की शक्ति बिचारी इन्द्रियो मे कहाँ से हो ? अर्थात् कान से विशुद्ध ब्रह्म की ध्वनि सुन नही सकता है, आखें शुद्ध ब्रह्म को देख नही सकती हैं, नाक उसे सूँघ नही सकता है, जीभ चखा नही सकती है और चमडी स्पश नही कर सकती है।

भले ही शास्त्रो की युक्तियो से—तर्कों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर दो, भले ही बुद्धि की कुशाग्रता से नास्तिको के हृदय मे आत्मा की सिद्धि कर दो परन्तु आत्मा को पहचानना शास्त्र के सामर्थ्य के बाहर की बात है, बुद्धि की सीमा से बाहर की बात है। जानते ही हो कि शास्त्र और बुद्धि के बोरे भर कर राजा प्रदेशी के पास जाने वालो को कितना दु ख उठाना पडा था ? राजा प्रदेशी को वे विद्वान् शास्त्र या बुद्धि से आत्मा को नही बता सके ! इन्द्रियो के माध्यम से आत्मा को देखने का आग्रह करने वाले प्रदेशी राजा ने कितने घोर अन्याय किये थे ? परन्तु जब केशी आचाय उन्हे मिले, इन्द्रियो मे अगोचर, इन्द्रियो से अगम्य आत्मा का दशन कराया तब प्रदेशी राजा महात्मा प्रदेशी बन गया था।

आत्मा को विशुद्ध अनुभव से जाना।

इद्रियो के उन्माद को अलग करके आत्मा को पहचाना।

आत्मा को प्राप्त किया शास्त्रो एव युक्तियो से परे बन कर।

आत्मा को जानने के लिए, पहचानने के लिए प्राप्त करने के लिए जिसने दृढ सकल्प किया हो उसे इन्द्रिय लोलुपता शान्त करनी चाहिए। किसी भी इन्द्रिय को हस्तक्षेप नही करने देना

चाहिए। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की दुनिया से मन को दूर प्रदेश में ले जाना चाहिए.......तब विशुद्ध अनुभव की भूमिका का सृजन होता है।

आत्मा को जानने के सिवाय दूसरी किसी चीज को जानने की इच्छा नही होनी चाहिए। आत्मा को पहचानने के सिवाय दूसरी किसी भी चीज के पहचानने की जिज्ञासा नही होनी चाहिए। आत्मा को प्राप्त करने के सिवाय दूसरी कोई भी चीज प्राप्त करने की तमन्ना नही होनी चाहिए। जब तक यह श्रेणी प्राप्त न हो तब तक आत्मानुभव का पवित्र क्षण प्राप्त करना सभव नहीं है।

आत्मानुभव करने के लिए इस प्रकार जीवन परिवर्तन करने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग नही है। सिर्फ आत्मानुभव की बाते करने से कार्य सिद्धि नही होगी। इसके लिए पहाड़ो मे कन्दराओ में या आश्रमों में भटकने की आवश्यकता नही है। आवश्यकता है अतरग साधना की। आवश्यकता है शास्त्रो के विवादो से परे होने की और आवश्यकता है तर्क वितर्क के विषम जाल से बाहर निकलने की।

आत्मानुभव करने के लिए आत्मानुभवी के साथ रहना चाहिए। आस-पास की दुनिया बदल जानी चाहिए। आत्म-ध्यान में लीन होने का प्रयत्न चालू हो जाना चाहिए। दूसरी सब इच्छायें, कामनायें एवं अभिलाषाओ को दफना देना चाहिए। इस तरह किया हुआ आत्मानुभव संसार सागर पार कराता है।

हाँ, आत्मानुभव का ढोंग करने से नही चलेगा। दिन रात विषय-कषाय और प्रमाद से लोटपोट मानव आधा या एक घंटा

एकांत स्थान मे बैठकर, विचार शून्य होकर 'सोऽहं' का जाप करने से मान ले कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया तो यह आत्मवंचना होगी। आत्मानुभवी का संपूर्ण जीवन बदल जाता है। उसे तो विषय विष के प्याले के समान लगते हैं और कषाय मणिधर (भयंकर सर्प) की प्रतिकृति लगते हैं। प्रमाद इसके पास भटकेगा ही नही। आहार विहार मे साधारण मानव से बहुत ऊँचा उठा हुआ होता है। आत्मानुभूति का उसे इतना आनन्द होता है कि दूसरे आनन्द उसे तुच्छ लगते हैं। परमात्म-स्वरूप पाने के लिए आत्मानुभव को पाने के सिवाय दूसरे सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसका यह तात्पर्य है।

> ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रिया ।
> कालेनैतावता प्राज्ञै कृत स्यात् तेषु निश्चय ॥८॥ २०४

श्लोकार्थ

जो युक्तियो से इन्द्रियो से अगोचर पदार्थ जान सकते हैं तो इतने समय मे विद्वानो से अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय मे निर्णय कर लिया होता।

विवेचन

विश्व मे दो प्रकार के तत्व हैं

(१) इन्द्रियो से अगोचर।

(२) इन्द्रियो से गोचर।

सम्पूर्ण विश्व इन्द्रियो से अगोचर नही है इसी तरह सम्पूर्ण विश्व इन्द्रियो से गोचर भी नही है, ऐसा माने बिना चल नही सकता। विश्व की ऐसी अनंत बातें हैं जिनका साक्षात्कार अपनी

या किसी की भी इन्द्रियों द्वारा नही हो सकता। ऐसे तत्वों को, पदार्थों को 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है।

ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का निर्णय मनुष्य किस तरह कर सकते है ? भले ही मनुष्य विद्वान् या तीव्र बुद्धिशाली हो, विद्वत्ता या बुद्धि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नही करा सकती है। क्या ससार मे आज दिन तक कोई विद्वान या बुद्धिमान पैदा ही नही हुआ है। क्या वे एक भी अतीन्द्रिय पदार्थो का सर्व सम्मत निर्णय कर सके है।

आज बुद्धि एवं तर्क से ही समझने का आग्रह बढ़ता जाता है। बुद्धि एव तर्क से समझा जावे और इन्द्रियां से अनुभव हो सके उसको ही मानने की प्रवृत्ति प्रवल हो रही है। जो बुद्धि से नही समझ सकते हैं और तर्क से सिद्ध नही होता है उसकी अवहेलना करने का तूफान वढ़ रहा है। तव श्री उपाध्याय जी का यह कथन सर्वत्र प्रसारित करना आवश्यक है।

बुद्धि से नहीं समझा जा सके ऐसा कोई तत्व क्या इस संसार में नही है ? क्या ससार में कोई भी ऐमी समस्या नही है जो बुद्धि से हल नहीं हुई हो ? क्या कोई प्रश्न ही नही रहा ? आज वैज्ञानिको के सामने हजारों ऐसे प्रश्न हैं जिनका हल बुद्धि से नही निकल सका है।

शायद आप कहेगे कि जैसे-जैसे बुद्धि का विकास होगा वैसे-वैसे उन समस्याओ का हल निकल जायेगा।

बुद्धि में हमेशा उत्सुकता होती है। बुद्धि हमेशा अपूर्ण होती है। अपूर्ण बुद्धि पूर्ण चैतन्य का साक्षात्कार किये विना या इसके ऊपर श्रद्धा स्थापित किये विना सर्व समस्याओं का समाधान सभव नही है।

चाद पर पहुँचाने वाले वतमान विज्ञान से पृथ्वी के मानवो की दरिद्रता हल नही हो रही है। अन्न का प्रश्न वाह फैलाये खडा है। मानव मानसिक अशान्ति मे झुलस रहे है। फिर भी विज्ञान के गुण गाते हुए अधदग्ध मानव विज्ञान की सर्वोत्कृष्टता पर अधश्रद्धा रखते है। बुद्धि का दुराग्रह मनुष्य को अतीन्द्रिय पदार्थो का अस्तित्व भी स्वीकारने नही देता तो फिर अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात्कार करने की तो वात ही कहा हो सकती है।

आत्मा परमात्मा इन्द्रियो के अगोचर तत्व है। तर्क और युक्ति से इनका अस्तित्व सिद्ध है पर इन्द्रियो से ये तत्व प्रत्यक्ष अनुभव नही हो सकते है। इनको अनुभव करने के लिए इन्द्रियातीत शक्ति चाहिये। इसलिये इन्द्रियातीत तत्वो को मात्र जानने के लिए ही जानना नही है। इन तत्वो का साक्षात्कार ही मनुष्य को परम शान्ति प्रदान करता है। इसका साक्षात्कार मानव की ऐसी सब समस्याओ का हल है जिसका हल किसी भी दूसरे साधन से हो नही सकता। इसका साक्षात्कार होने के वाद मनुष्य स्वय को 'दु खी अशात' नही समझता है। दु ख और अशान्ति उसे स्पर्श भी नही कर सकती।

इसलिए, अतीन्द्रिय पदार्थो का निर्णय करने के लिए बुद्धि के अश्व पर वैठ कर वाद-विवाद मे मानव जीवन का अमूल्य समय नष्ट किये विना, अनुभव के मार्ग पर चलकर आत्मा की अनुभूति कर दु ख अशान्ति से मुक्त होने मे ही सार है और यही परमार्थ है। यहा ग्रन्थकार ने अतीन्द्रिय पदार्थो का निर्णय करने मे आज तक कोई विद्वान सफल हुआ नही है, ऐसा कह कर अपन को मार्ग वदलने की प्रेरणा दी है। आत्मानुभव के मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया है।

शास्त्र और विद्वान् तो मात्र मार्ग दर्शक है, इनके पास रहने मात्र से कार्य सिद्धि नही होगी।

केषा न कल्पनादर्वी शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
विरलास्तद्रसास्वाद विदोऽनुभव जिह्वया ॥५॥ २०५

श्लोकार्थ

किसी की भी कल्पना रूपी कड़छी शास्त्र रूपी खीर में प्रवेश करने वाली नही है, परन्तु तुच्छ अनुभव रूपी जीभ द्वारा शास्त्र के रस का स्वाद जाना जा सकता है।

विवेचन

गृहकार्य मे मशगूल रहने वाली भारतीय नारी को जैसे अनुभव ज्ञान का विज्ञान समझाते हो उसी तरह श्री उपाध्याय जी महाराज चौके के माध्यम से 'अनुभव' समझाते है।

इस चूल्हे पर उफनती खीर को देखो। उसमे कडछी को रखकर (कडछी विना हिलाये) क्या आप खीर को हिला सकते है ? उसे आप जलने देना नहीं चाहते है······पर कडछी से खीर हिलाने मात्र से क्या खीर का रसास्वादन आपको प्राप्त हो जायेगा ? नही।

खीर का स्वाद जानने के लिए उसे जीभ पर रखना ही पड़ेगा। खीर के साथ जीभ का सयोग हो और लपलपाती जीभ मुख के चारों तरफ घूमती हो तब उसके रस की अनुभूति होती है।

शास्त्र खीर का भोजन है।

कल्पना (तर्क बुद्धि) कडछी है।

अनुभव जीभ है।

उपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि तर्क बुद्धि से यदि शास्त्र उथलाते ही रहेंगे तो उससे आपको शास्त्र ज्ञान के रसास्वादन का अनुभव नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं परन्तु शास्त्रों को तर्क बुद्धि से हिलाते रहने से जीवन पूर्ण हो गया तो अन्त समय में अफसोस होगा कि 'हिला हिला कर खीर तो तैयार की, परन्तु इसका रसास्वादन करने के लिए भाग्यहीन रहा हूँ' यानी रस का मजा नहीं लूट सका।

खीर पकाई जाती है उसका उपभोग करने के लिए उसके रसास्वादन के लिए। कड़छी तो सिर्फ खीर बनाने का साधन है। साधन तक ही इसका महत्त्व है। इस साधन से खीर तैयार होने के बाद लक्ष्य खीर पर ही होना चाहिए, कड़छी पर नहीं।

अतः बुद्धि की मर्यादा यहाँ स्पष्ट कर दी गई है। शास्त्रों का अर्थ निर्णय हो गया और तैयार होने के बाद कड़छी तो तर्क [illegible] दी जाती है। इसी तरह तर्क बुद्धि का फिर काम नहीं है। फिर तो वे तैयार हुए अर्थ निर्णय का रसास्वादन करने के लिए अनुभव रूपी जीभ ऊपर उसे रखेंगे और उसकी मधुरता का रसानुभूति करें।

यहाँ शास्त्र ज्ञान और अनुभव का सम्बन्ध भी बताया है। खीर के बिना खीर का रसास्वादन ज्ञान द्वारा मनुष्य नहीं कर सकता है। खीर कितनी ही मधुर हो परन्तु खीर ही न हो तो? इसी तरह शास्त्र ज्ञान के बिना अनुभव भी जाग्रत कैसे हो सकता है? इसलिए शास्त्र [illegible] [illegible] है। [illegible]

[illegible]

होती है। जल जावेगी और स्वादहीन वन जावेगी। इसको तो कडछी से हिलाते रहना पड़ेगा। इसी तरह तर्क वुद्धि विगर शास्त्रों की खीर पक नहीं सकती है। जव तक शास्त्रों के अर्थ की ज्ञान रूप खीर नही पकती है तव तक तर्क वुद्धि की कडछी से हिलाते रहे। खीर को पहले तैयार करे। तैयार होने के वाद कडछी को कोने मे रखकर ...... जीभ को तैयार करे।

अनुभव को कैसे घरेलू भाषा में यहाँ समझाया गया है।

वुद्धिवादियों ने इसकी वुद्धि की कार्य सीमा वाँध दी है। वुद्धि की तर्क की अवहेलना करने वालो को वुद्धि की अनिवार्यता समझाई गई है। सिर्फ अनुभव का प्रलाप करने वालों को शास्त्र और शास्त्रो के रहस्यों को प्राप्त करने की वात हृदय मे वैठा दी गई है। जिन्दगी भर शास्त्रों की गठरियाँ सर पर रख कर विद्वत्ता मे कृतकृत्य मानने वाले को अनुभव की दिशा निर्देश की गई है। इस तरह सवका समन्वय करके कैसा आत्म विज्ञान प्रकट किया है।

चलिये। अपन जीवन के चौके मे वैठ कर चूल्हे पर शास्त्र ज्ञान की खीर पकावे.......तर्क वुद्धि की कडछी से खीर को पका कर, अनुभव की जीभ द्वारा इस खीर का रसास्वादन लेकर जीवन को सार्थक वनावे।

पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं निर्द्वन्द्वानुभवं विना।
कथं लिपिमयी दृष्टिर्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥६॥ २०६

श्लोकार्थ

क्लेश रहित शुद्ध अनुभव विना पुस्तक रूप, वाणी रूप, अर्थ का ज्ञान रूप दृष्टि राग द्वेष आदि से रहित शुद्ध आत्म स्वरूप को कैसे देख सकते है ?

विवेचन

चम दृष्टि,

शास्त्र दृष्टि,

अनुभव दृष्टि,

जिस पदार्थ का दर्शन अनुभव दृष्टि से ही हो सकता है उस पदार्थ को चर्म या शास्त्र दृष्टि से देखने का पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। कर्म कलक से मुक्त विशुद्ध ब्रह्म का दर्शन चर्म दृष्टि या शास्त्र दृष्टि से नहीं हो सकता है। इसके लिए अनुभव दृष्टि की आवश्यकता होती है।

लिपिमयी दृष्टि

वाङ्मयी दृष्टि

मनोमयी दृष्टि

इन तीनों दृष्टियों का समावेश शास्त्र दृष्टि मे होता है। ये तीनो दृष्टिया विशुद्ध शास्त्र दृष्टि देखने मे असमर्थ हैं।

'लिपि' साक्षर रूप होती है चाहे वह लिपि गुजराती हो, संस्कृत हो या कोई भी हो, केवल अक्षरो की दृष्टिसे परम ब्रह्म के दर्शन नहीं होते हैं।

'वाङ्मय दृष्टि' व्यजनाक्षर रूप है अर्थात् कोरे अक्षरो के उच्चारण मात्र से परम ब्रह्म के दर्शन नहीं होते हैं।

'मनोमयी दृष्टि' अर्थ के परिज्ञान रूप है अर्थात् कितना भी ग्रथ ज्ञान मिले तो भी इसके द्वारा सब क्लेश रहित आत्म स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

कोई कहता हो कि पुस्तकें पढकर या ग्रन्थ पढकर परम ब्रह्म

के दर्शन होते है, तो यह भ्रम है। अगर कोई कहता है कि श्लोक शब्द या अक्षरों के उच्चारण करने से आत्मा के दर्शन होते हैं तो भी यह यथार्थ नही है। अगर यह भी कहे कि शास्त्रों के एक-एक शब्द के अक्षर का अर्थ समझने से आत्मा का साक्षात्कार होगा यह भी मानने योग्य नही है।

आत्मा का.......कर्मों के आवरणो से मुक्त पवित्र आत्मा के दर्शन के लिए 'केवल ज्ञान' की दृष्टि चाहिए। यही अनुभव दृष्टि है। जब तक अपनी दृष्टि कर्मों के प्रभाव से रोगी है तब तक कर्म रहित आत्मा नही दिखाई देगी। जैसे लाल रंग के काच के चश्में से पदार्थ लाल रग का ही दिखाई देगा सफेद नहीं, उसी तरह कर्मो के प्रभाव से प्रभावित दृष्टि से सब कर्म युक्त ही दिखेगा कर्म रहित नही।

रागी व द्वेषी दृष्टि वीतराग को देख सकती है क्या? वीतराग के शरीर को भले ही देख ले परन्तु वीतरागी आत्मा को नही देख सकेगी। उसे दूसरे वीतराग के शरीर को व अपनी आत्मा को देखने के लिए राग-द्वेष रहित दृष्टि की आवश्यकता पडती है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि दृष्टि को निर्मल करो। दृष्टि निर्मल करने का अर्थ है मन को व मन के विचारो को निर्मल करना। क्षण-क्षण मे आत्मद्वेष के द्वन्द्वों में फसे हुए विचार आत्म चिन्तन भी नही कर सकते है। जब तक राग-द्वेष के पर्वतो से विचारों की आन्तरिक नदी बहती रहेगी तब तक अशांति का तूफान रहेगा ही। मन के राग द्वेष मिटाने के लिए पचेन्द्रियों पर सयम, चार कषायों पर अंकुश, पाँच आश्रवों से विराम और तीन दंड विरति ऐसे सत्रह प्रकार के सयम का पालना करना होगा। केवल बाह्य संयम ही नही परन्तु आतरिक

सयम ग्रावश्यक है । स्वाभाविक तौर पर विचार विषय, कषाय, ग्राश्रव ग्रौर दड से प्रभावित न हो ऐसी मन स्थिति बनानी चाहिए ।

ससार के चप्पे चप्पे मे खडी हुई समस्याग्रो ग्रौर नई-नई ग्रनुकूल या प्रतिकूल घटनाग्रो मे मन रागी द्वेषी न बने ग्रौर मध्यस्थता धारण करे तो वह ग्रात्म स्वरूप की निकटता प्राप्त सकता है । प्रतिक्षण क्रोधादि कषायो मे मशगूल, शब्दादि विषयो मे ग्राकर्षित, हिंसा ग्रादि ग्राश्रवों मे खेलते हुए ग्रपन विशुद्ध ग्रात्म स्वरूप के दर्शन की बात करने के ग्रधिकारी हैं क्या ? चम दृष्टि ग्रौर व्यवहार दृष्टि मे ही फसे हुए ग्रपन भले ही 'ग्रात्म दर्शन' पर धारा प्रवाह भाषण दे सकते हैं परन्तु स्वय पर इसका कोई ग्रसर नही होता है ।

न सुषुप्तिरमोहत्वान्नापि च स्वापजागरौ ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्ते स्तुर्यैवानुभवो दशा ।।७।। २०७

श्लोकार्थ

मोह रहित होने से गहरी निद्रा रूप सुषुप्तावस्था भी नही है, स्वप्न एव जाग्रत दशा भी नही है, कल्पना रूप कारीगर का ग्रभाव होने से यह ग्रनुभव रूप चौथी ही ग्रवस्था है ।

विवेचन

ग्रनुभव दशा !!!

क्या यह सुप्तावस्था है ? क्या यह स्वप्नावस्था है या जागृत दशा है ? इन तीनो ग्रवस्थाग्रो मे से किसी का भी ग्रनुभव मे समावेश नही हो सकता है ? पर क्यों ? ग्राइये इस पर विचार करें ।

सुपुप्तावस्था निर्विकल्प है, अर्थात् सुपुप्तावस्था में मन का कोई विचार या विकार नहीं होता है……परन्तु आत्मा मोह के बन्धन से मुक्त नही होता है। क्या गहरी निद्रा रूप सुपुप्ति मोह रहित होती है? जबकि अनुभव दशा मोह के प्रभाव से मुक्त होती है इसलिए अनुभव का समावेश सुपुप्ति मे नही हो सकता।

(२) स्वप्न के साथ क्या अनुभव को मिला सकते हैं? स्वप्न कितना ही मनमोहक रमणीय और भव्य हो पर उसमें कल्पना के सिवाय वास्तविकता का अश नही होता है, जबकि अनुभव दशा में कल्पना का अश नही होता है इसलिए स्वप्न दशा में अनुभव का समावेश नही होता है या स्वप्न दशा को अनुभव दशा नही कह सकते है।

(३) जाग्रतावस्था भी कल्पना शिल्प का ही सर्जन है। इसे भी अनुभव दशा नही कह सकते है। अतः अनुभव दशा इन तीनो अवस्थाओ से अलग ही चौथी अवस्था है।

आज 'सुषुप्ति' को आत्मानुभव कहने वाला भी एक वर्ग है। ये कहते हैं, "शून्य हो जाओ, मन से सब विचार निकाल दो अच्छा हो या बुरा कोई भी विचार नहीं होना चाहिए…… इस तरह जितने समय तक रह सको उतने समय तक रहो। इससे आपको आत्मानुभव होगा।" जैसे सुषुप्ति—घोर निंद्रा में कोई विचार नही होता है परन्तु वह भी मोह शून्य दशा नही है। कुछ समय के लिए मोह की चेतनता के अगारों पर राख डालने मात्र से मोह दशा दूर नही होती है। घंटा या दो घटे शून्य के समुद्र में गोता लगाने से मन के अन्दर रहने वाली मोह दशा धुल नही सकती। शून्य के समुद्र में से वास्तविक ससार मे आते ही स्त्री-धन-भोजन मित्र परिवार आदि की तरफ मोह

वृत्तियाँ उछलती है। अनुभव दशा मे ऐसा नही होता है। इस अवस्था मे तो चाहे दिन हो या रात्रि, शहर हो या जगल, हमेशा और सब जगह मोहरहित अवस्था होती है। न राग के आलाप प्रलाप होते हैं और न द्वेष के तूफान। वहाँ तो वास्तविक आत्म दर्शन का अपूर्व आनद होता है और लगातार आत्मानुभूति होती है।

शून्यता मे आत्म साक्षात्कार की बाते करने वाले जब शून्यता के समुद्र मे गोते लगाकर बाहर निकलते है तब उनका हृदय ससार के शब्द, रूप, रस, गध एव स्पर्श का भोग करने के लिए कितना आतुर रहता है अगर यह देखना हो तो आचार्य रजनीश के शिविर मे जाकर देख सकते हैं। भोग विलास की तूफानी दुनिया मे 'आत्मानुभूति' करने वाले आज के बुद्धिजीवियो की बुद्धि को धन्यवाद देना चाहिए या धिक्कारना ?

कभी कभी यह प्रोफेसर (आचार्य ?) प्रकृति की निसर्ग की कल्पना लोक की साहित्यिक भाषा मे लिखते हैं और इसी कल्पना मे आत्म दर्शन आत्मानुभूति कराने का दभ करते हैं। क्या विचार शून्यता=आत्मानुभूति है ? क्या निसर्ग का मानसिक कल्पना चित्र आत्मानुभूति है ? तो विचार शून्य एकेन्द्रिय आदि जीवो को आत्म साक्षात्कार हो गया हुआ मानना चाहिए। निसर्ग के गोद मे रहते हुए पशु पक्षियो को आत्मानुभूति के देवदूत मानना चाहिए।

आत्मा का अनुभव सुषुप्तावस्था, स्वप्नावस्था या जाग्रतावस्था नही है परन्तु इन तीनो से अलग ही एक चौथी अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए सही दिशा मे पुरुषार्थ करना चाहिए।

अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्र दृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मानुभवेनाधिगच्छति ।।८।।२०८

श्लोकार्थ

मुनि शास्त्रदृष्टि से समस्त शब्द ब्रह्म को जान कर के अनुभव से स्वयं प्रकाश रूप पर ब्रह्म.......परमात्मा को पहचान लेते हैं।

विवेचन

'अनुभव दृष्टि से ही विशुद्ध आत्म स्वरूप को जान सकते हैं तो फिर शास्त्रों से क्या प्रयोजन ? शास्त्रों का अध्ययन, परिशीलन क्या काम का नहीं है ?'

इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शास्त्र दृष्टि से समस्त शब्द ब्रह्म का ज्ञान करना है। यह ज्ञान प्राप्त करके परमात्मस्वरूप को जानना है। शास्त्र दृष्टि के विना शब्द ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है और अनुभव दृष्टि खुल नही सकती है।

शास्त्रों का अध्ययन, चितन, परिशीलन अनुभव दृष्टि के लिए करना है शास्त्राध्ययन का लक्ष्य—ध्येय 'अनुभव' होना चाहिए। शास्त्रों में फसने का नही। शास्त्रों का अध्ययन कर विद्वान् वन कर कीर्ति कमाने वाले मनुष्य अनुभव दृष्टि प्राप्त नही कर सकते है।

शास्त्रों का ज्ञान ऐसा होना चाहिए कि 'शास्त्र' हमारी 'दृष्टि' वन जाये। धर्म दृष्टि पर शास्त्र दृष्टि का चश्मा लग जाना चाहिए। देखना, सुनना या विचार करना सव शास्त्र के अनुसार ही होना चाहिए।

कुरगडु मुनि के पात्र मे चार चार महिनो के उपवास वाले मुनियो ने रोष से थूका था तब कुरगडु मुनि ने 'थू क' को शास्त्र दृष्टि से देखा था। तपस्वियो के तिरस्कार भरे शब्द शास्त्र दृष्टि से सुने थे और उसे घृणा की दृष्टि से देखने वाले इन मुनियो को शास्त्र की दृष्टि से देखा था। (१) चम दृष्टि ने थू क' बताया परन्तु शास्त्र दृष्टि ने उसे 'घी' बताया। यह तो कोरे चावलो में इन तपस्वियो ने 'घी' डाला है। यह तो तपस्वियो के मुख का अमृत है। (२) चर्म दृष्टि से जो वचन तिरस्कार भरे लगते थे, शास्त्र दृष्टि से वे वचन 'पवित्र प्रेरणा का स्रोत' लगे! 'मैं आज सवत्सरी के महापव पर भी पेट भरने वाला हूँ। मुझे इन तपस्वियो ने उपवास करने की प्रेरणा दी है।' (३) चम दृष्टि इन तपस्वियो को 'क्रोधी अभिमानी' बताती थी परन्तु शास्त्र दृष्टि इन मुनिवरो को मोक्षमाग के यात्री बताती थी। उन्हे मोक्षमाग दशक बताती थी।

शास्त्र दृष्टि से कुरगडु मुनि ने अनुभव रूपी अमृत प्राप्त कर लिया था। कुछ ही क्षणो में इस अनुभव दृष्टि से विशुद्ध परम ब्रह्म के दशन कर लिये थे! यह कार्य करती है शास्त्र दृष्टि।

एक पैर पर खडे होकर, दोनो हाथ ऊँचे करके सूय की तरफ देखकर ध्यान करते हुए प्रसन्नचन्द्र राजपि के कानो मे सैनिको के ये वचन पडे 'देखो, बिचारे नन्हे राजकुमार को छोडकर प्रसन्नचन्द्र जगल में ध्यान करते हैं जबकि राजकुमार का चाचा उसका राज्य हडपने के लिए तैयारी कर रहा है।'

प्रसन्नचन्द्र ने इन वचनो को शास्त्र दृष्टि से नही सुना। उसने मनरूपी भूमि पर शत्रु से जग छेड दिया रौद्र ध्यान मे

चढ घोर हिंसा का तांडव नृत्य किया। सातमी नरक में जाने लायक कर्म बांधने लगे। भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में बैठे हुए श्रेणिक राजा ने जब चर्मदृष्टि से प्रसन्नचन्द्र की ध्यान मुद्रा को देखकर राजर्षि की प्रशंसा करके प्रश्न पूछा तो भगवंत ने कहा; 'श्रेणिक, यह राजर्षि अगर अभी मरे तो सातमी नरक में जाये।'

राजर्षि मुनि वेष में थे, ध्यानस्थ मुद्रा एवं कठोर आतापना लेने की क्रिया में थे परन्तु दृष्टि शास्त्र की नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप उनका सुनना ही उनका अधोगमन करा रहा था। परन्तु ज्योंही उसने शास्त्र दृष्टि से देखा तो मस्तक का मुकट लेकर शत्रु को मारने के लिए जाते समय मुड़ा हुआ सर देखा और दृष्टि एकदम बदल गई। शास्त्र दृष्टि ने उसको अधोगति में से झड़प से निकाल लिया और केवलज्ञान की भूमिका पर लाकर खड़ा कर दिया।

शास्त्रों का अध्ययन' शास्त्र दृष्टि' के लिए करने से, उसके द्वारा विश्व दर्शन करने से, परमब्रह्म–अन्य निरपेक्ष परमात्म दशा प्राप्त की जा सकती है।

ओ ह्री अर्हं नम

२७. योग

अगर आपने किसी मुनि, योगी, सन्यासी या प्रोफेसर का योग पर कोई प्रवचन सुना हो तो आपको यह अष्टक अत्यन्त सही और सत्य मार्गदर्शन करेगा। योग के नाम से आज सर्वत्र, देश-विदेश मे भ्रान्तियां फैल रही हैं। योग के प्रयोग पर चलचित्र बन गये हैं। भोगी योगी का ढोंग कर योग की प्रक्रियायें सिखा रहे हैं।

एकाग्र चित्त से इस प्रकरण का अध्ययन करिये। एक निष्काम महर्षि सैकडो वर्षों पहले योग पर आठ श्लोक लिख गये हैं उनका मनन करें।

मोक्षेण योजनाद् योगः सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्थलिम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥१॥ २०९

श्लोकार्थ

मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने से सब आचरण योग कहलाते है । विशेष कर स्थान (आसन आदि), वर्ण (अक्षर) अर्थ ज्ञान, आलंबन और एकाग्रता विषयक है ।

विवेचन

भोग और योग ।

भोग से दृष्टि उचटे तो योग पर दृष्टि जमती है । भोग का भूत जब तक सुधी जीव की मन, वचन, काया पर छाया हुआ है तब तक सुधी जीव को योग मार्ग दिखाई ही नहीं देगा । काम वासनाओं का भोगी योग मार्ग को दुःख से भरा हुआ देखता है ।

परन्तु वैषयिक सुखो से विरागी, शास्त्र दृष्टि वाला साधक ऐसा मार्ग खोज निकालता है जिस पर चल कर वह परम सुख प्राप्त कर सकता है । रास्ते की कठिनाइयाँ, भय आदि उसके हृदय को विचलित करने की कोशिश करते हैं परन्तु उनकी आत्मा का उल्लास एव सत्वभाव विघ्नों की अवहेलना करते है और उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर करते है ।

संसार और मोक्ष दोनों को जोड़ने वाला सेतु योग मार्ग है । 'मोक्षेण योजनाद् योगः' आत्मा का जो मोक्ष से सम्बन्ध कराता है उसे योग कहते हैं । जिस मार्ग पर चल कर आत्मा मोक्ष के द्वार पर पहुँचे उसे योग मार्ग कहते हैं ।

'योगविशिका' ग्रंथ में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने कहा है ।

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो'

'मोक्ष के साथ जुडने वाले सब धर्म कार्य योग है।' मोक्ष का कारण भूत जोव का पुरुपार्थ भी योग है परन्तु यहाँ विशेप कर पाच प्रकार के योग बताये गये है।

(१) स्थान

(२) वर्ण

(३) अर्थ

(४) आलबन

(५) एकाग्रता

(१) सब शास्त्रो मे प्रसिद्ध कायोत्सग-पर्यकबध-पद्मासन आदि आसन 'स्थान' है।

(२) धर्म क्रियाओ मे बोले जाने वाले शब्द 'वर्ण', कहलाते है।

(३) शब्दाभिधेय के व्यवसाय को 'अर्थ' कहते हैं।

(४) बाह्य मूर्ति आदि विपयक ध्यान को 'आलबन' कहते हैं।

(५) रूप वाले द्रव्य के आलबन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि को 'एकाग्रता' कहते हैं।

इनमे पहले के चार प्रकार सविकल्प समाधि रूप हैं और पाचवा प्रकार निर्विकल्प समाधि रूप है।

इन पाचो प्रकारो मे पहला प्रकार योग 'आसन' का है। हर एक योगाचार्य ने योग का प्रारम्भ आसन से बताया है। 'अष्टाग योग' मे भी पहला आसन है। 'आसन' के द्वारा शरीर की

चंचलता दूर की जाती है। जव तक शरीर स्थिर न हो तव तक मन की स्थिरता नहीं होती है।

अपनी धार्मिक क्रियाये-सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में भी आसन का महत्व समावेश है। सामायिक में सुखासन, पद्मासन, सिद्धासन से वैठकर स्वाध्याय, जप आदि करे तो सामायिक की धर्मक्रिया प्रभावशाली वन जाती है। प्रतिक्रमण में जो 'काउस्सग्ग' किये जाते है वे भी आसन ही है इसलिए काउस्सग्ग के दोषों को टालने का लक्ष्य होना चाहिए।

इसी तरह मुद्राओं का भी लक्ष्य होना चाहिए। कौन सी क्रिया किस मुद्रा में हो उसका ज्ञान होना चाहिए। इसी तरह सूत्रों के अर्थो का ज्ञान और उनका उपयोग होना चाहिए। शुद्ध उच्चारण हो। मूर्ति, स्थापना आदि जो भी आलंबन सामने हो उस पर दृष्टि स्थिर होनी चाहिए तव यह महान योग वनेगा और आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ देगा।

वैठने का ढंग नहीं, सूत्रों के उच्चारण शुद्ध नही, अर्थोपयोग के प्रति उपेक्षा, मुद्राओं का ध्यान नहीं और आलंबन के प्रति अवहेलना हो ऐसा योग आत्मा को मोक्ष से नही जोड़ सकता.... ....पर मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने की इच्छा हो ऐसे योग से भोग प्राप्त करने वाले रजो एवं तमो गुणों से भरे हुए जीव योग की भी कदर्थना करते हुए देखने मे आते है।

कर्मयोगद्वयं तत्र ज्ञानयोगत्रयं विदुः।
विरतेष्वेव नियमाद् वीजमात्रं परेष्वपि ।।२।। २१०

श्लोकार्थ

इनमें दो कर्म योग और तीन ज्ञान योग जाने जाते हैं, ये विरतिवंत में अवश्य होते है। दूसरों में भी योग वीज रूप है।

विवेचन

'ज्ञान-क्रियाभ्या मोक्ष' ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है। इन पाच योगो मे दो क्रिया योग हैं और तीन ज्ञान योग है।

स्थान और शब्द क्रिया योग है।

अर्थ आलबन और एकाग्रता ज्ञान योग है।

कायोत्सग, पद्मासन आदि आसन, योग मुद्रा, मुक्ता सुक्ति मुद्रा और जिन मुद्रा आदि मुद्रायें क्रिया योग है। अगर ये आसन, मुद्रा वगैरह किये बिना ही प्रतिक्रमण, चैत्यवदन आदि क्रियायें करते हैं तो क्या वे क्रिया योग कहलायेंगे ? क्या अपना क्रिया योग भी पूरी तरह से आराधन किया जाता है। प्रतिक्रमण आदि क्रियाओ मे काऊस्सग्ग करते हैं। क्या ये काऊस्सग्ग उनके नियमो के अनुसार होते हैं ? काऊस्सग्ग किस तरह करना इसकी शिक्षा लिए बिगर ही काऊस्सग्ग करने वाले क्या 'स्थान-योग' की उपेक्षा नही करते हैं ? हा ! उन्हें यह भी ख्याल नही है कि काऊस्सग्ग भी योग है। पद्मासन आदि आसन योग है। योग मुद्रा आदि योग है। कौन सी क्रिया करते समय कैसी मुद्रा होनी चाहिए, ऐसा ख्याल कितने लोगो को है ?

'वर्ण' योग की आराधना क्रिया योग है। सामायिक आदि सूत्रो का उच्चारण कैसे करना चाहिए ? क्या इसमे शुद्धि का लक्ष्य है ? इसमे अल्प या पूर्णविराम का ध्यान रहता है ? सिर्फ नवकार मत्र का भी उच्चारण शुद्ध है ? अगर इस तरह स्थान योग और वर्ण योग का पालन न करके क्रियायें करते जायें तो क्या क्रिया योग के आराधक कहलायेंगे ?

अब 'ज्ञान योग' की उपासना पर विचार करें।

सूत्रों के अर्थ का ज्ञान होना चाहिए। क्रिया योग में मन की स्थिरता, चित्त प्रसन्नता तभी होती है जब कि इनके अर्थों का ज्ञान हो। अर्थ ज्ञान ऐसे प्राप्त करना चाहिए कि सूत्रों का आलंबन लिए विगर ही अर्थों की झुरझुरी चलने लगे और इसके भान प्रवाह में मन बहने लगे।

'हमको धर्म क्रियाओं में आनन्द नहीं आता है।' यह शिकायत बहुत ज्यादा बढ़ रही है परन्तु आनंद प्राप्त करने के लिए धर्म क्रियाये कौन करता है ? हां, धर्म क्रियाये भरपूर आनंद दे सकती है परन्तु इससे आनद प्राप्त करने की इच्छा है क्या ? सिनेमा, नाटक सर्कस आदि से जब तक आनंद प्राप्त करने की इच्छा प्रबल है तब तक धर्म क्रियायें फीकी-फीकी ही लगेगी। योगी को योग कैसे प्रिय लगेगा ? भोग में नीरसता आये विगर योग मे रसवृत्ति जाग्रत नहीं होगी। योग क्रियाओं में लगा हुआ भोगी का मन भोग की दुनियां मे भटकने लगता है तब भोगी धर्म क्रियाओं में दोप देखता है।

आलंबन के माध्यम से योगी अपने मन को स्थिर रखता है। परमात्मा की मूर्ति श्रेष्ठ आलबन है। पद्मासनस्थ मध्यस्थ भाव को धारण किये हुए प्रतिमा योगी के मन को स्थिर रखती है। योगी के लिए जिनमूर्ति प्रेरणा स्रोत बनती है। योगी की आँखे बन्द होते हुए भी उसका अंतर मन मूर्ति के दर्शन करता है। जिह्वा शान्त होते हुए भी परमात्मा की स्तुति गा रहा होता है। परमात्म दशा के प्रेमी के लिए मूर्ति स्नेह सवर्धन के लिए पर्याप्त साधन बन जाती है।

जिसके प्रति मनुष्य को राग, स्नेह, प्रीति होती है उसके विरह में उसकी प्रतिकृति (फोटो), उसकी मूर्ति……स्नेही के

लिए कितना महत्व रखती है यह उन्हें पूछ कर देखिये। इस फोटो के द्वारा प्रेमी उसकी निकटता प्राप्त करता है, उसकी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं। उसके स्वरूप का ध्यान हो जाता है। जैसे ही मूर्ति के द्वारा उत्कटता प्रगट होती है वैसे ही वह पाचवें योग मे चला जाता है।

'रहित' योग में कोई विकल्प, विचार या कल्पना को स्थान नहीं है वह उनके समान ही बन जाता है फिर उनको किसका विचार करना है?

इस तरह क्रिया योग और ज्ञान योग को समझ कर मुनि सब इनकी आराधना करते हैं। जब अपुनर्बधक श्रावक आदि मे इस योग का प्रारंभ होता है उसमे योग का बीजारोपण हो जाता है।

कृपानिर्वेदसंवेगप्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥३॥ २११

श्लोकार्थ

यहाँ प्रत्येक योग में इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ये चार भेद हैं। ये कृपा, संसार का भय, मोक्ष की इच्छा और प्रशम की उत्पत्ति करने वाले हैं।

विवेचन

चार योग, इनके ये चार-चार प्रकार, इन योग प्रकार, प्रत्येक योग के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, ये चार चार भेद हैं।

पहला योग है 'स्थान'। आसन और मुद्राओं से इच्छा जाग्रत होता है। बाद में प्रवृत्ति होती है अर्थात् जिस स्थान

त्रिया में जो आसन और मुद्रा रखनी हो वही रक्खे। उसके वाद उसमे स्थिरता आती है। आसन मुद्रा में अरुचि व चंचलता दूर होती है। ऐसे करने से आसन और मुद्रा सिद्ध होती है।

दूसरा योग है 'वर्ण' जिस क्रिया में जिस सूत्र का उच्चारण करना हो उस सूत्र के अव्ययन करने की इच्छा हो और फिर उन २ क्रियाओ में सूत्रों के उच्चारण करने की प्रवृत्ति करे। सूत्रो के उच्चारण में स्थिरता आवे, अर्थात् कभी जल्दी तो कभी मंद गति""ऐसी अस्थिरता नही रहे। लयवद्धता से सूत्रोच्चारण की सिद्धि प्राप्त होती है।

तीसरा योग है 'अर्थ'। उसमें उन उन सूत्रों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हो। अर्थ ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करे, अर्थ ज्ञान स्थिर हो अर्थात् भूले नही। इस तरह अर्थ ज्ञान की सिद्धि ऐसी प्राप्त करे कि वे धर्म क्रिया करते समय अर्थोपयोग स्वाभाविक रूप से चलता ही रहे।

चौथा योग है 'आलंवन।' आलम्वन रूप जिन मूर्ति आदि के प्रति प्रेम हो। इनका आलंवन लेने की प्रवृत्ति वढ़े। मन निःशक, निर्भय होकर आलवन में स्थिर हो और उसमें ऐसी स्थिरता हो कि दूसरे जीवों की भी भावना योग की तरफ आकर्षित हो।

'रहित' निर्विकल्प समाधि रूप है। इसमें इच्छा आदि नहीं हो सकती परन्तु ऐसे निर्विकल्प योगी की वे प्रशसा करें। और ऐसे योगी वनने के उपायों में प्रवृत्ति करें। मन स्थिर वनता जाये और ऐसा निरालम्वन योगी वन जाये कि दूसरे जीवों को भी अपने योग की तरफ झुका लेवे।

इस योग की आत्मा मे अनुकपा, निर्वेद, सवेग और प्रशम प्रगट होते हैं अर्थात् आत्मा का सवेदन इसी तरह का बन जाता है।

दु खी जीवो को देखकर उसके हृदय मे उनका दु ख दूर करने की इच्छा जाग्रत हो। द्रव्य से दु खी और भाव से दु खी दोनो प्रकार के दु खियो के दु ख निवारण करने की इच्छा होती है। वह दुखियो की उपेक्षा नही कर सकता है।

ससार के सुखो से वह विरक्त बने। ससार को कारागृह या श्मसान के समान समझे। इसमे मुक्त होने की कोशिश करता हो चाहे चक्रवर्ती का या इन्द्र का सुख मिले तो भी इनकी तरफ आकर्षित न हो।

इस योगी का मन आत्मा की परिशुद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए तडफता हो। 'कब मैं मोक्ष जाऊँगा ?' यह तमन्ना हमेशा हो। मोक्ष के सुखो की तरफ आकर्षित हुआ होना चाहिए।

उपशम का तो सागर हो। कषायो को क्षीण भले भी इसके तन मन मे दिखाई नही देती हो। कषाय इसके मन को मथन नही कर सकती है। इसका मुख हमेशा प्रशातभाव मे देदीप्यमान होता है। यह इच्छादि योग का फल है, काय है।

अणुकपा निव्वेओ सवेगा होइ तह य पसमु त्ति।
एएसि अणुभावा इच्छाईएा जहासख ॥

—योगविंशिका

इच्छादियोग के ये अनुभाव हैं, अनुकपा, निर्वेद, सवेग और प्रशम। ये अनुभाव प्रगट करने के लिए योगी को पुरुषार्थ करना चाहिए। इन अनुभावो से आत्मा अपूर्व शान्ति अनुभव करती है।

ज्ञान और क्रिया द्वारा आत्मा के भावों को परिवर्तन करने का लक्ष्य रखना चाहिए। लौकिक भावनाओं से लोकोत्तर भावनाओ में जाना है। स्थूल से सूक्ष्म मे जाना है।

इच्छा तद्वत् कथा प्रीतिः प्रवृत्तिः पालनं परम्।
स्थैर्य बाधकभीहानिः सिद्धिरन्यार्थ साधनम् ॥४॥ २१२

श्लोकार्थ

योगी की कथा में प्रीति हो वह 'इच्छा योग' है। उपयोग के पालन को 'प्रवृत्ति योग', अतिचार के भयों के त्याग को 'स्थिरता योग', और दूसरो के अर्थ का साधन करने को 'सिद्धि योग' कहते है।

विवेचन

अब इच्छा आदि चार योगों की स्वतंत्र परिभाषा की जाती है—

(१) इच्छा योग, योग की वार्ता में प्रीति जाग्रत करता है। योग एव योगी की वार्तायें रुचिकर लगती है। उन्हें आप शमशान मे काउस्सग्ग ध्यानस्थ खड़े हुए अयवंति सुकुमाल की कथा कहेगे तो भाव विभोर हो जायेंगे। अगर आप कृष्ण वासुदेव के भाई गज सुकुमाल मुनि की कहानी सुनायेगे तो वे उसमे मग्न हो जायेंगे। अगर खंधक मुनि या झांझरीया मुनि की वार्ता कहेगे तो उसमे इतने मग्न हो जायेगे कि भूख प्यास का भी ध्यान नही रहेगा। इन्हें आप 'इच्छा योगी' जानिये। आप यह न समझे कि ये वार्तायें तो सबको अच्छी लगती है। ये तो इच्छा योगी को ही अच्छी लगती हैं दूसरों को नही। इस इच्छा योगी को आजकल के रहस्य रोमांच के उपन्यास, सामा-

जिक या श्रृंगार रस से भरी हुई कहानियाँ विज्ञान के नये आविष्कारो के चमत्कारिक लेख आदि नीरस लगेगे। उन्हे पढना या सुनना भी अच्छा नही लगेगा। देश विदेश की घटनाये, मन्त्रियो का चुनाव या राजाओ का अध पतन, विश्व की सुन्दरतम स्त्रियो, उनके हाव भाव, कटाक्ष, शृंगार, कपडो, बालो आदि का फशन सब अजब एव रसहीन लगेगे। उन्हे सौंधी सौंधी सुगन्ध वाले तरह-तरह के सुस्वादु भोजन भी अच्छे नही लगते हैं।

(२) जिसे जो पसन्द हो वह उसे प्राप्त करने के लिए या उसके समान बनने का प्रयत्न करता है, इच्छा योगी ऐसे शुभ उपयोग का पालन करने के लिए तत्पर रहते हैं। उनका आदर्श कोई 'योगी' हो जाता है। फिर चाहे आनदघनजी हो या यशोविजयजी, उनके समान योगी बनने के लिए शुभ पवित्र उपाय का पालन करते है।

(३) शुरू-शुरू मे उनका पुरुषार्थ त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है। उसमे गल्तियाँ भी होती हैं और अतिचार भी लगता है परन्तु सजग योगी लक्ष्य से चूकते नही है। वे अतिचार को टालने की कोशिश करते हैं और अपनी त्रुटियाँ सुधार लेते है। वे ऐसे अप्रमत्त बन जाते हैं कि निरतिचार आचार पालन करते है जिससे उनको कोई अतिचार लगने का भय ही नही रहता है।

(४) ऐसे योगी को अहिंसा आदि गुण ऐसे सिद्ध हो जाते हैं कि [illegible] मात्र से ही ये गुण दस[illegible]
प्राप्त हो [illegible] ऱ्या की वैर वृत्ति का शमन
और [illegible] शान्त हो जाती है।

योगी के योग की कथा आदि सुनने के लिए मन ललच जाता है। वह इच्छा स्वाभाविक होती है। ऐसी प्रीति वाले मनुष्य स्थान आदि योग बहुत पसन्द करते हैं। इसलिए योगियो का पावन सान्निध्य खोजता फिरता है। जब परम योगी मिल जाते है तब उनका हृदय आनद विभोर हो जाता है।

आज मुनियो मे यह स्थानादि योगों की ओर प्रवृत्ति प्राय: देखने में नही आती है। योग का मार्ग मानो किसी दूसरे वर्ग के लिए हो वे ऐसा समझते है। शास्त्र-स्वाध्याय और तपश्चर्या जरूर होती है परन्तु वे स्थानादि योग के ज्ञाता नही होने से शास्त्र स्वाध्याय और तपश्चर्या सविकल्प में से निर्विकल्प मे ले जाने मे असमर्थ रहते है।

मोक्ष के साथ धर्म योग को जोड़ने वाले आराधको को स्थानादि योगो का भी समावेश करना चाहिए। धर्म क्रिया मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने की सामर्थ्य रखती है। परन्तु धर्म क्रिया सही रूप से होनी चाहिए। धर्म क्रिया मे उत्तरोत्तर विशुद्ध एव अतिचार रहित बनने की जागृति आनी चाहिए। ध्येयहीन एव विचार शून्य धर्म क्रिया आत्मा का कल्याण नही कर सकती है।

अर्थालम्बनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम्।
श्रेयसे योगिन:स्थानवर्ण योर्यत्न एव च ।।५।। २१३

श्लोकार्थ

चैत्यवन्दन आदि क्रिया मे अर्थ एवं आलवन का स्मरण करना चाहिए, स्थान तथा वर्ण के उद्यम भी योगी के लिए कल्याण कारक है।

विवेचन

योगी !

ऊर्ध्वगामी गतिशीलता !

परम ज्योति मे विलीन होने की गहरी इच्छा !

अन्धकार मे प्रकाश फैलाने वाले झूँठ का नाश कर सत्य को स्थापित करने वाले मृत्यु की जडता को मिटाकर अमरता की वरमाला पहनने वाले योगी होते हैं। योगी कल्याण और सुख चाहता है पर जो सुख योगी चाहते है वह विश्व के बाजार मे नही मिलता ! हा, इस बाजार में सुख को खरीदने वालो की भीड लगी हुई है। योगी यहाँ आते हैं कुछ आश्चर्य, निराशा एव निश्वास छोडकर आगे बढ जाते हैं। इन बाजारो मे सजाए हुए सुख के अन्दर दृष्टिपात करे तो हृदय द्रवीभूत हो जाता है। यह हलाहल विष से भी भयकर है इस के ऊपर सुख का शृगार है। जिसे खरीदने वाला देखता है। ससार के प्राणी ऊपर का सौन्दय देखते हैं, खरीद कर उसका उपभोग करते हैं और आखिर स्वय हो टूट जाते हैं।

योगी सुख चाहते हैं परन्तु इन्हे इन्द्रियो की खुजलाहट नही है। योगी आनन्द के इच्छुक हैं परन्तु उनके मन का उन्माद नही हैं। ये स्वस्थ हैं, शान्त हैं। ये बाह्य दुनिया के सुख प्राप्त करने की परवाह न कर आतरिक ससार मे गोते लगाते हैं इनकी सूक्ष्म दृष्टि वहाँ सुख का विपुल भडार देखती है।

आतरिक सृष्टि मे प्रवेश करने का वे दृढ सकल्प करते है इसलिए वे सवज्ञ का माग दर्शन शास्त्रो मे खोजते हैं। जब माग दशन मिल जाता है तब हृदय गद्गद हो जाता है। उनकी आखें

हर्ष के आंसुओं से छलछला उठती है। वे स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन इन चारो योगो की आराधना करना प्रारंभ कर देते है।

सर्व प्रथम आसन मुद्राओ का अभ्यास शुरु करते है। सुखासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि आसन सिद्ध करके घंटो तक उन आसनो को कर अपने शरीर को अनुरूप बनाते है। योग मुद्रा आदि मुद्रायें सिद्ध करके शरीर को आज्ञाकारी बनाते हैं। इसलिए आहार, विहार एवं नीहार के नियमों का सतर्कता से पालन करते है। प्रमाद (आलस्य) या शक्तिहीनता शरीर से निकाल कर अपने शरीर को स्थान योग के लिए सुयोग्य बनाते है।

इसके उपरान्त दैनिक जीवन मे धर्म क्रियाये; चैत्य वंदन, प्रतिक्रमरण, पडिलेहरण आदि बोलने के सूत्रों का अध्ययन इस तरह करते है कि बोलने व सुनने वाले दोनों को मदमस्त कर देते है। उनके धीर गंभीर एव मधुर कंठ की स्वर लहरी से बाहर का कोलाहल शान्त हो जाता है। स्वर-व्यंजन के उच्चारण के नियमो का पालन करने वाला योगी 'वर्ण योग' को भी सिद्ध कर देता है।

इस तरह शरीर एवं जिहवा पर असाधारण नियंत्रण करके मन को वश करने की क्रिया प्रारम्भ करते हैं। इसके लिए आवश्यक क्रियाओ के सूत्रो का अर्थ समझते है। अर्थ ज्ञान से वे सूत्रो का कल्पना चित्र बनाते हैं। जैसे जैसे सूत्रो का उच्चारण करते है वैसे वैसे कल्पना चित्र उभरते जाते है। जो बोलते है वे सुनते जाते है और उनके भावों में बह जाते है। मन भाव विभोर हो जाता है और आनन्द की तरंगो में गोते खाने लगता है। इनके साथ साथ जिन मूर्ति आदि का आलंबन लेकर आनंद

मे चार चाद लगा देते हैं। जिन मूर्ति मे उसका मन रम जाता है। वीतराग एव सर्वज्ञता से प्रेम करने लगता है।

योगी इस तरह अपना कल्याण मार्ग प्रशस्त करता है। योगी का आभ्यतर सुख योगी ही अनुभव कर सकता है। भोगी इसे न देख सकता है और न अनुभव कर सकता है। योगी अपना सुख न भोगी को बता सकता है और न कह सकता है। अगर कभी कहने भी लगे तो भोगी को वह नीरस लगेगा। योगी का सुख भोगी को आकर्षित नही कर सकता है और भोगी का सुख योगी को ललचा नही सकता है।

आलम्बनमिह ज्ञेय द्विविध रूप्य रूपि च।
अरूपि गुण सायुज्य योगोऽनालम्बन पर ॥६॥ २१४

श्लोकार्थ

यहाँ आलवन, रूपी और अरूपी दो प्रकार के हैं उसमे अरूपी-सिद्ध के स्वरूप के साथ तन्मयता योग का उत्कृष्ट आलवन योग है।

विवेचन

चौथा योग आलवन है।

आलवन दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी।

जिन प्रतिमा आदि रूपी आलवन है जब कि अरूपी आलवन सिद्ध स्वरूप की तादात्म्यता है। ये आलवन होते हुए भी इन्हे आलवन योग कहते हैं। श्री हरिभद्र सूरिजी महाराज ने योग विंशिका मे कहा है

आलवण पि एय रूविमरूवि य इत्य परमुत्ति।
तग्गुणपरिणइरूवा सुहुमो अणालवना नाम ॥

यहाँ रूपी और अरूपी दो प्रकार के आलंबन हैं। उसमें अरूपी परमात्मा के केवल ज्ञान आदि गुणों की तन्मयता रूप सूक्ष्म अनालंबन (इन्द्रियों के अगोचर होने से) योग कहा है।'

पांचवां एकाग्रता योग (रहित) जो अनालंबन योग है। स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन ये चार योग सविकल्प समाधि-रूप है जब कि यह पांचवां अनालबन योग निर्विकल्प समाधि-रूप है। क्रमशः आत्मा को इस निर्विकल्प दशा में जाना है।

अशुभ भावों मे से शुभ भावों में जाना पड़ता है और शुभ में से शुद्ध भावो में जाया जाता है। अशुभ से सीधे शुद्ध में नही जा सकते है। कचन एव कामिनी का आलवन जो कि आत्मा को राग, द्वेप, मोह में फसाने वाले है, दुर्गतियों में भटकाने वाले हैं, इन आलवनों का त्याग कर इनके स्थान पर दूसरे शुभ आलंवन ग्रहण करने से ही हो सकता है। नन्हा वालक हाथ में मिट्टी लेकर खाता है, माता उसके हाथ मे मिट्टी लेने का प्रयत्न करती है परन्तु वह नही छोड़ता है। जब उसकी मां एक हाथ में मिठाई देती है तब वालक हाथ से मिट्टी तुरन्त फैंक देता है। इसी तरह अशुभ-पाप वर्धक आलवनों से छूटने के लिए शुभ पुण्य वर्धक आलवन ग्रहण करने चाहिए।

जैसा आलवन सामने होता है वैसे ही विचार चित्त मे उत्पन्न होते है। राग द्वेप के आलवन राग द्वेप पैदा करते है। विराग-प्रशम के आलबन आत्मा मे विराग प्रशम पैदा करते है। परम कृपालु परमात्मा की वीतराग-मूर्ति का आलवन लेने से हृदय में विराग की मस्ती जाग्रत होगी। श्री आनन्दघनजी महाराज ने गाया है—

"अमि-भरी मूर्ति रचिरे उपमा न घटे कोय।

शात सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय
विमल जिन दीठा लोयरण आज ।"

जिन मूर्ति का आलंबन आत्मा मे कैसा मधुर पवित्र स्पदन पैदा करता है यह अनुभव करके देखो । ऐसा करते करते परमात्मतत्व मे स्थिरता प्राप्त होती है । ध्यान मे परमात्मा के दर्शन होगे । अपनी आत्मा परमात्मस्वरूप के साथ ऐसा तादात्म्य प्राप्त करेगे कि आत्मा और परमात्मा का भेद ही नही रहेगा भेद भाव रहित मिलन होगा । वहा कोई विकल्प नही रहता क्योकि यह भेद मे होती है परन्तु अभेद मे निर्विकल्प दशा होती है ।

फिर इन्हे रूपी मूर्त आलंबन की आवश्यकता नही रहती है । सूक्ष्म मे प्रवेश करने के बाद स्थूल की अपेक्षा नही रहती है । सूक्ष्म आत्म गुणो के तादात्म्य साधने वाला योगी 'योग निरोध' के समक्ष पहुँच जाता है योग निरोध रूप सर्वोत्तम योग का पूर्वभावी यह आलंबन योग है । अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में योग निरोध होता है उनमे पूर्वभावी आलम्बन योग १ से ७ गुण स्थानको मे सभव नही है इसलिए अपन साधक दशा मे रहे हुए (१ मे ७ गुण स्थानको मे) जीवो के लिए तो पहले ४ योग ही आराधन करने हैं परन्तु आलंबन योग का स्वरूप जानना आवश्यक है जिससे अपना आदर्श एव ध्येय स्पष्ट हो ।

इस आलंबन योग को 'धारा वाही प्रशान्त म[illegible]ता'' भी कहा जाता है ।

प्रीति भक्ति वचो ऽसगं स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।
तस्माद् योग योगाप्ते र्मोक्षयोग क्रमाद् भवेत् ।।७।।२१५

श्लोकार्थ

प्रीति, भक्ति, वचन और असग अनुष्ठान की तरह स्थानादि

योग भी चार तरह के है जिससे योग के निरोध रूप योग प्राप्त होनेसे अनुक्रम से मोक्ष योग प्राप्त होता है।

विवेचन

५ योग (स्थान, वर्ण, अर्थ, आलंबन, अनालंबन)
×४ योग (इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि)
२०
×४ (प्रीति, भक्ति, वचन, असंग)
८०

यह है योग के भेद प्रभेद का गणित।

इस तरह योग की आराधना करने वाला योगी अयोगी बनता है। शैलेशी प्राप्त कर मोक्ष का पथिक बनता है।

चैत्यवदन आदि धर्म योग मे परम आदर होता है। गतानुगतिक तरीके भाव शून्य हृदय से आराधित किया हुआ धर्म योग आत्मा की प्रगति नही कर सकता है। प्रीति अनुष्ठान में उनको स्थान नही मिलता है। अनुष्ठान में इतना मग्न हो कि अनुष्ठान कर्त्ता का अभ्युदय हो। ससार के सब कार्य त्याग कर एक निष्ठा से धर्मानुष्ठान की आराधना करे। मन में सतत एव सर्वत्र धर्मानुष्ठान की प्रीति बनी रहे।

भक्ति अनुष्ठान मे भी आदर, उत्कट प्रेम और अन्य प्रयोजनो का त्याग होता है परन्तु यहां एक विशेषता होती है, जो धर्म योग वह आराधन करता है उसका महत्व-गौरव उसके हृदय मे अंकित हो जाता हैं।

प्रीति एव भक्ति के पात्र भिन्न होते है जैसे पत्नी एवं माता। जैसे युवक को पत्नी अति प्रिय होती है वैसे ही हितकारी मां भी। दोनों का पालन पोषण समान होता है परन्तु पुरुष पत्नी

का पालन प्रीति से करता है और मा का कार्य भक्ति से करता है।

तीसरा वचनानुष्ठान है। सब धर्मानुष्ठानो को शास्त्रानुसार औचित्यपूर्वक करना चाहिए। चारित्रवान मुनि वचनानुष्ठान की अवश्य आराधना करे। ये शास्त्र की आज्ञा का कभी भी उलघन नही करते हैं और साथ साथ औचित्य का भी पालन करते हैं। शास्त्रो की आज्ञा विना औचित्य से पालन की जाये तो दूसरे जीवो को शास्त्र से घृणा हो जाती है।

चौथा असगानुष्ठान है। जब धर्मानुष्ठान का बहुत ज्यादा अभ्यास हो गया हो तब असगानुष्ठान सहजता से होता रहता है जैसे चन्दन से सुग ध स्वाभाविक निकलती है उसी तरह यह अनुष्ठान होता रहता है।

वचनानुष्ठान और असगानुष्ठान मे एक अ तर है। कुम्हार डडे से चक्र को घुमाता है, फिर डडे के बिगर हो चक्र घूमता रहता है। इसी तरह वचनानुष्ठान शास्त्र की आज्ञा से होता है फिर शास्त्र के सस्कार मात्र से, शास्त्रो की अपेक्षा विना सहज भाव से जो प्रवृति होती है वह असगानुष्ठान है।

गृहस्थ वग मे प्रीति और भक्ति अनुष्ठान की प्रधानता होनी चाहिए। भले ही गृहस्थ शास्त्र की आज्ञाओ को नही जानता हो परन्तु उसे इतना जरूर जानना चाहिए कि यह धर्म माग तीर्थंकरो द्वारा बताया गया है और इससे ही सर्व सुख प्राप्त होगे कर्मों का क्षय होगा। आत्मा का निर्वाण होगा। पाप क्रियायें तो करके अनन्त ससार मे भटका, चारो गति के घोर दु ख सहन किये इसलिए मुझे अब ये पाप क्रियायें नही करनी है। अब तो ये हितकर क्रियायें करके जीवन सफल बनाना है।'

प्रीति-भक्ति से आराधन किया हुआ धर्मानुष्ठान ऐसा पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जित कराता है कि एक नौकर भी महाराज कुमारपाल बन सकता है। पांच कौडी के पुण्य से इसने जो जिन पूजन के अनुष्ठान का आराधन किया वह प्रीति अनुष्ठान था। इस अनुष्ठान से ऐसा अभ्युदय हुआ।

"अभ्युदयफले चाद्ये निः श्रेयस साधने तथा चरमे।"
—षोडशके

पहले दो अनुष्ठान अभ्युदय साधक हैं। आखिर के दो अनुष्ठान निःश्रेयस के साधक हैं।

स्थाना द्ययोगि नस्तीर्थो च्छेदा लम्बनादपि।
सूत्रदाने महादोष इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥८॥२१६

श्लोकार्थ

स्थानादि योग रहित को आलंबन इत्यादि से भी 'तीर्थ का उच्छेद होता है, उनको चैत्य वंदन आदि सूत्र सिखाने पर महा पाप होता है, यह आचार्यों का कथन है।

विवेचन

कोई भी वस्तु के आदान प्रदान में योग्यता-अयोग्यता का विचार करना आवश्यक होता है। देने वाले और लेने वाले की योग्यता पर देने और लेने में व्यवहार शुद्धि होनी चाहिए।

दाता योग्य हो पर लेने वाला;अयोग्य हो।
दाता अयोग्य हो पर लेने वाला योग्य हो।
अगर लेने व देने वाले दोनों अयोग्य हों।
तो ये तीनों प्रकार शुद्ध नही हैं।

देने वाला और लेने वाला दोनो योग्य हो तो यह प्रकार शुद्ध है।

सामायिक सूत्र, चैत्य वदन सूत्र, प्रतिक्रमण सूत्र दान की यहा चर्चा की गई है। सूत्र किसको देना चाहिए? सूत्रो का अथ किसको समझाना चाहिए? यह प्रश्न है।

पूज्य उपाध्यायजी समथ पूर्वाचायो के उद्धरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते है।

जिस व्यक्ति को स्थान, इच्छा, प्रीति आदि कोई भी योग प्रिय नही, किसी भी योग की आराधना जो नही करता ह, उसे सूत्र दान नही करना चाहिए।

प्रश्न वर्तमान मे ऐसे योग प्रिय या याग आराधक मानव मिलने दुलभ है। अगर पाच प्रतिशत भी मिल जाये तो अहो-भाग्य ह। तो चैत्यवन्दन आदि सूत्र क्या २-४ को ही सिखाना चाहिए? दूसरो को नही देने से क्या धम शासन का विच्छेद नही होगा? वैसे भी अविधि से भी धम क्रिया कोई करता ह तो नही करने वाले से तो अच्छा है?

समाधान सव प्रथम धम शासन-तीथ को समझे। तीथ किसे कहते हैं? जिन आज्ञा रहित मनुष्यो के समूह तीथ नही है। जिनाज्ञा पालन, उसके प्रति आदरप्रीति बहुमान वाले साधू-साध्व, श्रावक श्राविका का समुदाय शासन है, तीथ है। इनको सूत्रदान करने मे कोई पाप नही है क्योकि ये अविधि को उत्तेजना नही देंगे। अविधि से धम क्रियायें करने वालो की पीठ शावाशी से नही थपथपायेंगे। अविधि को उत्तेजना देने से शास्त्रोक्त क्रियाओ का उच्छेद होता है जिससे तीर्थो का उच्छेद होता है।

'धर्म क्रिया' नही करने वालों से अविधि से करने वाले अच्छे हैं यह कारण उचित नहीं है। अविधि की परंपरा पर चलने पर अविधि 'विधि' बन जाती है फिर कोई शास्त्रोक्त विधि बताता है तो वह 'अविधि' लगती है। पूज्य यशोविजयजी उपाध्यायजी के शब्दों मे पढ़िये :

'शास्त्रोक्त क्रियाओं का लोप करने से उसका कटु परिणाम होता है। स्वय मरना और दूसरों को मौत के घाट उतारने में क्या फर्क नही है? उसमें इतनी विशेषता है कि स्वयं मरता है तो उसमें उसका दुष्टाशय निमित्त रूप नही है और दूसरों को मारता है तो उसका दुष्टाशय निमित्त रूप है। इसी तरह क्रिया में प्रवृत्ति नही करने से गुरु का दोष नहीं है परन्तु अविधि में प्रवृत्त होता है तो उन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले परिणाम से महादूषण (पाप) लगता है। यह भी तीर्थ उच्छेद के दुर्भागी को विचार करने योग्य है।

स्थानादि ५ योग, इच्छादि ४ योग और प्रीत्यादि ४ योग का मार्ग बताकर पूज्य उपाध्यायजी ने मोक्ष मार्ग की आराधना करने के इच्छुक को सुन्दर मार्ग दर्शन किया है। भोग की भ्रमणा से निकल कर योग के मार्ग में प्रस्थान करने के लिए इस योगाष्टक का गभीर चिंतन करना चाहिऐ। साथ साथ 'योग विंशिका' का अध्ययन भी करना चाहिए जिससे विशेष अवबोध प्राप्त होगा।

———

ओ ह्री अर्हं नम

२८. नियाग (यज्ञ)

सभव है कि वर्तमान मे आपने यज्ञ अनुष्ठान नहीं देखा हो। आज कल इतने व्यापक रूप मे देखने मे नहीं आते हैं। फिर भी जो यज्ञ होते हैं क्या वे वास्तविक हैं? सच्चा यज्ञ कैसा होना चाहिए? इसकी क्रिया क्या है?

यहाँ यज्ञ मे काम आने वाले शब्द आपको पढने को मिलेंगे और आप स्वय स्वतत्रता से यज्ञ कर सकते है। कोई भी बाह्य साधन बिना ऐसी प्रक्रिया बताई गई है कि ऐसा कल्याण कारी यज्ञ अपन को हमेशा करना चाहिए।

यः कर्महुतवान् दीप्ते ब्रह्माग्नौ ध्यान धाय्यया।
स निश्चतेन योगेन नियागं प्रतिपत्तिमान् ॥१॥२१७

श्लोकार्थ

जिसने प्रदीप्त किया है ब्रह्म रूप अग्नि मे ध्यान रूप वेद की ऋचा (मंत्रो) से कर्मों का होम किया हो वे मुनि निर्धारित भाव यज्ञ से नियाग को प्राप्त करते हैं।

श्लोक-विवेचन

यज्ञ !

जैन धर्म मे यज्ञ ?

हाँ, चौंकिये नही, यहाँ ऐसा दिव्य यज्ञ वताया जायेगा कि उसे देख कर आप झूमने लगेगे। यहाँ वेदो की विकृति से उत्पन्न हुए यज्ञ नही है। न अश्वमेध यज्ञ या पितृमेव यज्ञ, न हिंसात्मक क्रिया काड और न निरपराध जीवों की वली चढाने का प्रपंच है।

जैनेतर सप्रदायों में यज्ञ की उत्पति पर भिन्न भिन्न मन्तव्य प्रकट होते हैं। प्रलय के वाद मनुष्यों ने विवश होकर यज्ञ किया। फिर आर्यो में पृथ्वी पर सूर्य के प्रतिनिधि के रूप में अग्नि को आहुती देने की परम्परा चली। ब्राह्मण ग्रन्थों में खास कर यज्ञ की सूक्ष्म से सूक्ष्म कर्म कांड के विगतों का विधान है।

जैसे उपनिषदों ने यज्ञ की जड़ विधि के वदले रूपक तरीके अपनाये हैं वेसे ही पूज्य उपाध्यायजी महाराज भी यज्ञ के रूपक तरीके अपनाते है। देखिये यह रूपक—

- जाज्वल्यमान ब्रह्म अग्नि है।
- ध्यान (धर्म, शुक्ल) वेद की ऋचा है।
- कर्म (ज्ञानवरणादि) समिध (ईंधन) है।

ब्रह्म रूप अग्नि मे ध्यान रूप वेद की ऋचाओ का उच्चारण पूर्वक ज्ञानावरण आदि कर्मों को होम करने को नियाग कहते हैं। नियाग का अर्थ है भाव यज्ञ। केवल क्रियाकाड तो द्रव्य यज्ञ है। नियाग (भाव यज्ञ) करने वाला मुनि कैसा होता है उसका व्यक्तित्व 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे बताया है।

'सुसवुडा पचहिं सवरेहिं इह जीविय अणवकखमाणा।
वो सट्ठकाया सुइचत्तदेहा महाजय जयइ जन्नसेट्ठ ।''

''पाच सवर से सुसवृत, जीवन के प्रति अनाकाक्षी, शरीर के प्रति ममता रहित पवित्र, देहाध्यास के त्यागी, ऐसे मुनिवर कर्म पर विजय प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ यज्ञ कर्ता है।''

जसे अग्नि प्रदीप्त करनी पडती है वैसे ही योग-उपासना द्वारा मद पडे हुए ब्रह्म तेज को प्रज्वलित करना है। ध्यान-धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों को भस्मीभूत करना है। इस तरह भाव यज्ञ का मार्मिक एव वास्तविक अर्थ बताया गया है।

पाप ध्वसिनि निष्कामे ज्ञान यज्ञे रतो भव।
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं भूतिकामनया ऽऽविलैः ॥२॥२१८

श्लोकार्थ

पाप का नाश करने वाला, कामना रहित ऐसे ज्ञान यज्ञ मे जो आसक्त है उसे सुख की इच्छाओ के लिए मलीन पाप सहित कर्म यज्ञ मे क्या प्रयोजन है।

विवेचन

आपके जीवन का क्या लक्ष्य है?

मन-वचन एव काया के पुरुषार्थ की कौन सी दिशा है? कौन

सी इच्छा के अभिभूत होकर आप जी रहे है ? क्या पापों का विनाश करने का आपका लक्ष्य है ? पापों की गन्दगी धोने का आप पुरुषार्थ कर रहे है ? आत्मा को निर्मल बनाने की तमन्ना है तो आप 'ज्ञान यज्ञ' में लीन हो जाइये ।

हा, संसार की पचेन्द्रियों को क्षणिक तृप्ति देने के लिए कोई भी सुख की कामना हृदय में लेश मात्र भी नही होनी चाहिए । 'पर लोक में स्वर्ग का दिव्य सुख मिलेगा, यह भी भावी सुख की कामना हृदय मे नही होनी चाहिए । सुखो के प्रति निःस्पृह-निरागी बन कर यह ज्ञान यज्ञ करना है ।

पाप को नाश करने की भी कामना कही जाती है ? क्या आपको यह कहना है ? हा, यह कामना होते हुए भी निष्काम रूप अखंडित है । यह कामना आपको पाप करने के लिए प्रेरित नही करेगी । अपन को ऐसी कामना नही करनी चाहिए जिससे पाप के प्रति झुकाव हो । आप निशंक बनकर पापो का नाश करने के लिए ज्ञान यज्ञ प्रारम्भ कर दे ।

स्वर्ग, पुत्र, स्त्री, धन-वैभव आदि क्षुद्र कामनाओ की इच्छुक आत्मा यज्ञ की अग्नि में उज्ज्वल नहीं होगी पर उसमे दाग लग जायेंगे । ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की इच्छा करने से आत्मा मलिन और पापी बन जाती है । भोग की कामना आत्मा को मूढ बनाती है इसलिए ऐसी कामनाओ से यज्ञ नही करना चाहिए । भोग ऐश्वर्य की कामना के तीव्र प्रवाह मे बहता हुआ जीव घोर हिंसक यज्ञ भी करने को तैयार हो जाता है । जीवित प्राणियो को भभकती अग्नि में होम कर, देवताओ को खुश करने की भ्रान्त धारणाओ से मनुष्य सुख चाहता है । 'भूतिकामः पशुमालभेत' ऐसी श्रुतियों का वे सहारा लेते है ।

यज्ञ कर्ता एव कराने वाला दोनो मास भक्षण करते है। छक कर शराब पीते हैं और मिथ्या शास्त्रो के वचनो मे अपना बचाव करते हैं। पर स्त्रीगमन भी एक धर्म धर्माचरण मे समावेश करते हैं। इस तरह घोर नरक मे ढकेलने वाले पापो को भी यज्ञ के नाम से करते हैं।

अपन का ऐसे यज्ञ और इन यज्ञो के प्रतिपादन करने वाले शास्त्रो से दूर ही रहना चाहिए। ज्ञान यज्ञ मे ही लीन रहना चाहिए। अपना जीव यज्ञ कुन्ड है। तप अग्नि है। मन-वचन-काया का पुरुषार्थ घी डालने की कडछी है। शरीर अग्नि को प्रदीप्त करने वाला साधनाकम लकडे है और सयम साधन शान्ति स्तोत्र है।' श्री उत्तराध्ययन के यज्ञीय अध्ययन मे ऐसा ज्ञान यज्ञ बताया गया है।

वेदोक्तत्वात् मन शुद्धया कर्मयज्ञोपि योगिन ।
ब्रह्म यज्ञ इतीच्छन्त श्येनयाग त्यजन्ति किम् ?॥३॥२१६

श्लोकार्थ

वेद का कहना है कि मन की शुद्धि द्वारा कर्म यज्ञ भी ज्ञान योगी को ब्रह्म स्वरूप है।' ऐसे मानने वाले श्येन यज्ञ' को कैसे त्यागते है ?

विवेचन

'वेदो ने कहा है इसलिए सत्य है ऐसी मान्यता स्वीकारने योग्य नहीं है। भले ही मन शुद्धि हो या सत्व शुद्धि हो परन्तु ऐसा यज्ञ उपयोगी नहीं हो सकता है जिसमे घोर हिंसा या अज्ञानता या अन्धकार भरा हुआ है।

कोई व्यक्ति वेदोक्त यज्ञ कराने वाले से पूछे कि 'तुम मन

की शुद्धता से श्येन यज्ञ' करे तो ?' वे निषेध करेंगे। वास्तव में वेदों में कहे हुए यज्ञ के गूढ़ अर्थ को जाने बिना, अपनी कल्पना के अनुसार हिंसात्मक एवं पाप प्रचुर यज्ञ कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता है। कर्म यज्ञ को ब्रह्म यज्ञ नहीं कह सकते हैं।

ध्येय की शुद्धि करो। कहाँ जाना है ? क्या प्राप्त करना है ? क्या मोक्ष मे जाना है ? मोक्ष का ध्येय स्पष्ट हो गया है ? विशुद्ध आत्म-स्वरूप प्राप्त करना है ? अगर हाँ, तो पाप से लबालब कर्म यज्ञ करने का कोई प्रयोजन नही है। ज्ञान यज्ञ चलता रहना चाहिए।

ब्रह्म यज्ञः पर कर्म गृहस्थस्याधिकारिणः।
पूजादि वीतरागस्य ज्ञान मेव तु योगिनः ।।४।।२२०

गृहस्थ के अधिकारी को केवल वीतराग की पूजा आदि क्रिया ब्रह्म यज्ञ है और योगी को ज्ञान यज्ञ ही ब्रह्म यज्ञ है।

विवेचन

क्या ब्रह्म यज्ञ करने का अधिकार सिर्फ मुनिवरों को ही है ? क्या योगी ही ब्रह्म यज्ञ कर सकते हैं ? तो जो गृहस्थ हैं उनका क्या ? गृहस्थ ब्रह्म यज्ञ नहीं कर सकते हैं ? कर सकते हैं, पर उसके लिए उन्हें अधिकारी बनना पड़ेगा। योग्य बनना पडेगा। योग्यता संपादन किये बिना यह ब्रह्म ज्ञान नहीं कर सकते है। वे योग्यता है ★ मार्गानुसारी ३५ गुणो की। न्याय सपन्न वैभव से चालु कर सौम्यता पर्यन्त पैंतीस गुणों मे गृहस्थ का जीवन सुवासित होना चाहिए तो यह ब्रह्म यज्ञ कर सकते हैं।

गृहस्थ जीवन में हिंसा आदि पाप थोड़े बहुत तो होंगे ही

★ मार्गानुसारी के ३५ गुणों का विवेचन पढ़िये, "आत्मा-मंगल" पुस्तक में प्र०:विश्व कल्याण प्रकाशन

परन्तु अगर उनका जीवन मार्गानुसारी है तो वह ब्रह्म यज्ञ कर सकता है। उनका ब्रह्म यज्ञ वीतराग परमात्मा का पूजन सुपात्रदान, साधु सेवा आदि है। इस प्रकार के ब्रह्म यज्ञ करने मे दो प्रश्न उपस्थित होते हैं परन्तु उसका समाधान जो किया जाता है उसे सरल भाव मे स्वीकार करे तो मन निःशक बन जाता है।

प्रश्न —परमात्म पूजन, सुपात्रदान साधु सेवा या साधार्मिक भक्ति मे राग होता है। जबकि जिनेश्वर देव ने राग को हेय बताया है तो परमात्म पूजन आदि रूप ब्रह्म यज्ञ कैसे उपादेय तरीके से हो सकते हैं ?

समाधान —राग दो प्रकार का है।

प्रशस्त और अप्रशस्त। स्त्री, धन शरीर आदि पदार्थो पर राग अप्रशस्त राग है। अप्रशस्त राग से मुक्त होने के लिए प्रशस्त राग करना ही पडता है। प्रशस्त राग दृढ बनते ही अप्रशस्त राग छिन्न भिन्न हो जाता है। प्रशस्त राग मे पाप कम नही बधते हैं। जो जिनेश्वर ने राग को हेय बताया है उन्ही तीर्थकरो ने प्रशस्त राग को उपादेय कहा है वह सापेक्ष दृष्टि है।

प्रश्न —मानलो कि प्रशस्त राग उपादेय है परन्तु परमात्म पूजन मे यानी पुष्प धूप, दीपक आदि मे हिंसा होती है तो वह क्रिया क्यो की जाये ? जिस क्रिया मे हिंसा होती है उसे ब्रह्म यज्ञ कैसे कह सकते हैं ?

समाधान —परमात्मा का द्रव्य पूजा मे स्वरूप हिंसा होती है परन्तु अनेक आरभ समारम्भ मे रहे हुए गृहस्थ के लिए स्वरूप हिंसा आवश्यक है। स्वरूप हिंसा से कम बन्ध नगण्य होता है। जिसका नाश द्रव्य पूजा से उत्पन्न हुए शुभ भावो द्वारा हो जाता

है । गृहस्थ शुद्ध ज्ञान दशा मे रमण नही कर सकता है इसलिए उसके लिए द्रव्य क्रिया करना आवश्यक है। द्रव्य पूजा के माध्यम से जीव का परमात्मा के प्रति प्रशस्त राग बंधता है इस राग से प्रेरित हो कर परमात्मा की आज्ञा पालन करने की शक्ति प्राप्त होती है । यह शक्ति बढते ही गृहस्थ जीवन त्याग कर मुनि जीवन की कक्षा मे आ जाते है। तब उनके लिए द्रव्य क्रिया जिसमे स्वरूप हिंसा भी होती हो वह करनी नही पड़ती है ।

ग्रीष्म की मध्याह्न में एक पथिक जा रहा है। उसे प्यास लगी है। चारो तरफ दृष्टि दौड़ाता है परन्तु कुआ या प्याऊ दिखाई नही देती है। आगे बढता है, वहाँ एक जल रहित नदी देखता है। वह विचार करता है, थक गया हूँ, खोदू तो प्यास भी लगी है अब क्या करना चाहिए ? यह नदी है गड्ढा खोदू तो पानी मिलता है, थक भी गया हूँ..........गड्ढा खोदने मे कपडे भी गदे हो जायेगे.......' उसने खूब विचार किया..........परन्तु हा, भले ही थके हुए हो और कपड़े भी गदे हो जावेगे परन्तु पानी मिलते ही प्यास बुझ जायेगी और थकावट मिट जायेगी और कपड़े भी धोकर स्वच्छ कर सकेगे ।' इस विचार से उसमें उत्साह का सचार हुआ और उसने गड्ढा खोदा, पानी मिला....... पेट भर के पिया, स्नान किया और कपडे भी धोये... ....

इसी तरह जिन पूजा में भले ही स्वरूप हिंसा से आत्मा कुछ मलिन हो जाये परन्तु इसी जिन पूजा द्वारा जब शुभ और शुद्ध अध्यवसाय प्रकट होंगे तब आत्मा का सब मैल धुल जायेगा। भव भ्रमण की सब थकावट उतर जायेगी और परमानन्द की प्राप्ति होगी। इस तरह गृहस्थ को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना है

जब कि ससार त्यागी अणगार को तो सिर्फ ज्ञान का ही ग्रहण ज्ञान प्राप्त करना है। उन्हें जिन पूजन के द्रव्य अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

भिन्नोद्देशेन विहितं कर्मकर्मक्षयाक्षयम्।
क्लृप्तभिन्नाधिकारं च पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम् ॥५॥२२१

श्लोकार्थ

अलग उद्देश्य से शास्त्र में कहा हुआ अनुष्ठान कर्म का क्षय करने में असमर्थ है। जैसे पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता है उसी तरह यह अलग अधिकार भी माना जाता है।

विवेचन

आपका उद्देश्य स्पष्ट है? आपका ध्येय दृढ है। आपको क्या प्राप्त करना है? कैसा बनना है? कहाँ जाना है? जो आप पुरुषार्थ कर रहे हो उससे आपको प्राप्त करना है वह होगा यह निर्णय आपने किया है? जो आपको बनना है उसके अनुसार आप अपनी प्रवृति से बन सकेंगे? जहाँ जाना है वहाँ आपकी गति आपको पहुँचायेगी ऐसा आपको विश्वास है?

आपको सिद्धि प्राप्त करनी है? परम आनन्द की उपलब्धि के लिए तुच्छ आनन्द और क्षणिक सुख से मुक्ति चाहते हैं? आपको परम गति में जाना है क्या? तो चारगति के परिभ्रमण से आप मुक्ति चाहते हैं? आपको सिद्ध स्वरूप बनना है? तो सगातार बदलती हुई कर्म जन्य अवस्थाओं से मुक्त होने के लिए पुरुषार्थ करते हैं? आपको शाश्वत शान्ति के धाम में जाना है? तो यहाँ के अशान्ति, अनेक सतापों से भरे हुए स्थानों को छोड़ने की तलरता है? ये सब बातें आपको गभीरता से सोचनी पड़ेगी।

आपका लक्ष्य है पञ्च इन्द्रियो के सुख प्राप्त करना और आप पुरुषार्थ करते है धर्म का ? आपको चार गति मे परिभ्रमण करना है और प्रयत्न धर्म का करते है। आपको कर्म जन्य, निरंतर परिवर्तन शील अवस्थाओ मे रचे पचे रहना है और मेहनत करते है धर्म की ! लक्ष्य और पुरुषार्थ अलग अलग है इससे कार्य सिद्धि नही होगी।

कर्म क्षय और पुण्य बंध का पुरुषार्थ अलग अलग है। कर्म क्षय और पुण्य उपार्जित करने वाले पुरुषार्थ से कर्म क्षय नही होगे ! हां, शास्त्रों मे पुण्य बंध के उपाय जरूर बताये जाते है पर उन उपायो से कर्म क्षय या सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। पुण्य बंध जरूर होता है।

कोई कहे कि हिंसक यज्ञ में भी विविदिषा (ज्ञा) है, यह सही नही है। हिंसक यज्ञ का उद्देश्य अभ्युदय है, नि.श्रेयस नहीं है। नि.श्रेयस के लिए हिंसक यज्ञ नही किया जाता है। पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करने में विविदिषा नही होती है इसी तरह सिर्फ स्वर्ग आदि सुखों की कामना से प्रेरित दान आदि क्रियायें कर्म क्षय नही कर सकती हैं। तात्पर्य यह है कि साध्य के उपयोग बिना की हुई धर्म क्रिया सुख के लिए नही होती है।

यहाँ दान आदि क्रियाओं को हेय नही बताया है परन्तु इसमें समझाया है कि इससे पुण्य उपार्जित होते हैं परन्तु कर्म क्षय नहीं होते हैं। इसलिए अगर कर्मक्षय करने का उद्देश्य हो तो ज्ञानयज्ञ करें। ऐसी गलती कभी भी नही करे कि पुण्य वन्ध की क्रियायें छोड़ कर पापार्जन की क्रियाओं में लीन हो जाओ और कर्म क्षय का लक्ष्य ही भूल जाएं।

ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्मयज्ञान्तर्भाव साधनम्।
ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्त स्वकृतत्वस्मये हुते ॥६॥२२२

अर्पण करने की क्रिया ब्रह्म है, होम की वस्तु भी ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि मे ब्रह्म रूप होमने वाले ने जो होम किया है वह भी ब्रह्म है और ब्रह्म रूप कर्म समाधिवाले को प्राप्त करने योग्य स्थान भी ब्रह्म है।

'जो कुछ है वह ब्रह्म है, ब्रह्म के अलावा कुछ नहीं है, 'मैं' भी नही हूँ और मेरा भी कुछ नही है इस तरह 'मै' को भूलने के लिए यज्ञ करना है ब्रह्म में ही सब होम कर देना है। 'मैं' भी ब्रह्म मे स्वाहा कर देना है। आज सच्चा ब्रह्म यज्ञ यही है। अहम्' रूप पशु को ब्रह्म में होम कर यज्ञ करने का यहाँ उपदेश दिया गया है।

जो कोई खराब अवांच्छनीय हुआ हो तो 'यह भगवान ने किया है' यह कह कर भगवान को समर्पण कर देते हैं और अगर कोई शुभ, मनोनुकूल हुआ हो तो 'यह मैंने किया है, मेरे पुण्य कर्म ने मुझे दिया है ऐसा अभिमान करना कोरी अज्ञानता है। जो कुछ होता है वह भगवान द्वारा होता है ऐसी विचार-धारा वाले तो भगवान के पूरे आश्रित होते हैं। हर एक विचार वचन और व्यवहार में भगवान व्याप्त होता है। अहंकार लेश मात्र भी नही होता है।

"नाहं पुद्‌गल भावानां कर्ता कारयितापि च'

"मैं पुद्‌गल भावों का कर्ता नहीं हूं और प्रेरक भी नहीं हूँ।' यह भावना पहले ही ग्रन्थकार ने अपने को दी है। कर्तृ-त्व का अभिमान होम दो ब्रह्म यज्ञ मे।

ब्रह्मण्यर्पित सर्वस्वो ब्रह्मदृग् ब्रह्म साधनः ।
ब्रह्मणा जुहृवदब्रह्म ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान् ॥७॥ २२३

ब्रह्माध्ययननिष्ठावान् परब्रह्मसमाहित ।
ब्राह्मणा लिप्यते नाघै नियागप्रतिपत्तिमान् ॥८॥ २२४

श्लोकार्थ

जिसने ब्रह्म मे सवस्व अर्पण किया है, ब्रह्म मे ही जिसकी दृष्टि है, ब्रह्म रूप ज्ञान जिनका साधन ऐसा (ब्राह्मण) ब्रह्म में अज्ञान (असयम) को होम कर ब्रह्मचर्य की गुप्ति वाला, ब्रह्माध्ययन की मर्यादा वाला × पर ब्रह्म मे समाधि वाला, भाव यज्ञ को स्वीकारने वाल। निग्रन्थ पाप से लिप्त नहीं रहता है।

विवेचन :

मेरा कुछ नही है। सब ब्रह्म के चरणो मे समर्पित है, हा, धन धान्य मेरा नहीं है, शरीर भी मेरा नही है अरे शरीर तो स्थूल है सूक्ष्म मन के विचार भी मेरे नही है । किसी भी विचार पर उसका आग्रह नही है। उसकी दृष्टि ब्रह्म की तरफ ही लगी हुई हाती है। ब्रह्म के सिवाय उसे कुछ भी नही दिखाई देता है और न कोई दूसरी बात रुचिकर लगती है। चाहे इसकी तरफ लाखो करोडो दृष्टि लगी हुई हो परन्तु इसकी दृष्टि तो ब्रह्म की तरफ ही होगी। इसके पास ज्ञान भी ब्रह्म ज्ञान का ही है। ब्रह्म ज्ञान का अर्थ है आत्म ज्ञान। आत्म ज्ञान का ही उपयोग अर्थात् सतत् सदैव मानसिक जागृति द्वारा ब्रह्म मे ही लीन रहना।

× 'ब्रह्माध्ययन' देखिये परिशिष्ट।

हां, जब तक इनके पास अज्ञान का ईंधन होता है तब तक वह ब्रह्म मे उसको होम करता रहता है, जला कर भस्म करता है। ब्रह्म की लीनता में बाधक ऐसे हर एक तत्व को ब्रह्माग्नि मे होम करने मे हिचकता नही है।

ब्रह्मचर्य का निष्ठा से पालन करने में इस योगी का मनोबल इतना दृढ हो जाता है कि आत्म ज्ञान की अग्नि में कर्मो को होम करने में थकता नही है। इनको कोई आचार-मर्यादा का पालन करने के लिए मन पर दबाव डालना नही पड़ता है परन्तु स्वाभाविकता से पालन हो जाता है। 'आचारांग सूत्र' के प्रथम अध्याय में जो मुनि जीवन की निष्ठाओ का वर्णन है उन्हे ये योगी आसानी से हृदयंगम करते हैं क्योकि इनमे परब्रह्म के साथ विलीन होने की तत्परता है।

ऐसा है ब्रह्म यज्ञ और ऐसा है यह ब्रह्म यज्ञ करने वाला ब्राह्मण ! क्या ऐसा ब्राह्मण पापो से लिप्त होगा ? ऐसा ब्राह्मण कर्मों में जकड़ा जायेगा ? नही, कभी नहीं। ब्रह्म यज्ञ को जो करता है वह ब्राह्मण। सिर्फ ब्राह्मणी की कोख से जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नही हो सकता है। ब्राह्मण बनने के लिए अज्ञानता से भरे हुए यज्ञ कर्म करने नही हैं। यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने ब्राह्मण को ही श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहा है। चाहे वह श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ हो परन्तु वह ब्रह्म यज्ञ करने वाला अवश्य होना चाहिए। ब्रह्म के अलावा इसकी दुनिया में कोई भी तत्व नही होना चाहिए, न पदार्थ हो और न कोई वस्तु हो, उनकी लीनता, प्रसन्नता……सब ब्रह्म मे ही होनी चाहिए।

साराश

- भाव यन करो।
- निष्काम यज्ञ करो।
- हिंसक यज्ञ वर्जित है।
- गृहस्थ के लिए वीतराग की पूजा ब्रह्म यज्ञ है।
- कम क्षय के उद्देश्य से भिन्न उद्देश्य से किया हुआ पुरुषार्थ कम क्षय नही करता है।
- कर्तृत्व के अभिमान को ब्रह्म यज्ञ की अग्नि मे होम दो।
- ब्रह्मार्पण का सही अर्थ समझो।
- ब्रह्म की परिणति वाला ब्राह्मण कहलाता है।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

२९. भाव पूजा

मुनिराज ! आत्मदेव की आपको पूजा करनी है। स्नान करना है और मस्तक पर तिलक भी लगाना है। पुष्प की माला प्रभु के गले में आरोहण करनी है और धूप दीपक आदि करने की आकांक्षा है।

किसी भी बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं, और न कोई बाह्य प्रवृत्ति। यह तो सिर्फ मानसिक भूमिका की पूजा है। इस पूजा के करने की योग्यता मुख्यतया साधुजनों में है परन्तु गृहस्थ नहीं कर सकते है ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ भी कर सकते है...वे साधना... आराधना की दृष्टि वाले होने चाहिए। कभी तो यह भाव पूजा करके देखिये अपूर्व आह्लाद अनुभव करेंगे।

दयाम्भसा कृतस्नानः संतोषशुभवस्त्र भृत् ।
विवेक तिलक भ्राजी भावनापावनाशय ॥१॥ २२५
भक्ति श्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरज द्रवैं ।
नवब्रह्माङ्गतो देव शुद्धमात्मानमर्चय ॥२॥ २२६

श्लोकार्थ

दया रूपी जल मे स्नान करने वाला संतोष रूपी शुभ्र वस्त्र धारण करने वाला, जिसके भाल प्रदेश पर विवेक का तिलक शोभायमान है ऐसी पवित्र भावनाओं से ओतप्रोत भक्ति एव श्रद्धा रूप सुवासित केसर एव शीतल चन्दन से शुद्ध आत्म रूप देव की नौ तरह से ब्रह्मचर्य रूप नौ अगों की पूजा करता है।

विवेचन

पूजन ? तुझे किसका पूजन करना है ? पूजन करके क्या प्राप्त करना है ? क्या तूने यह सब विचार किया है ? नहीं !

तू पूजन करना चाहता है, अरे, तू किसका पूजन कर रहा है 'अनेक अभिलाषाओं से लाद कर के पूजन का फल चाह रहा है सच है न ? परन्तु तू यह भी विचार कर कि तू सही पूजक बना है क्या ? पुजारी बने बिना तेरी इच्छायें पूर्ण होगी ? तेरी कामनाओं को सतोष मिलेगा ? इसलिए कहता हूँ कि तू 'पूजक' बन।

सर्वप्रथम तो तू स्नान कर। नहीं, तुझे पाप नही लगेगा। तू मुनि है यह मुझे मालूम है पानी के स्पर्श से पाप लगता है यह भी जानता हूँ तो भी तुझे कहता हूँ कि स्नान कर। तुझे ऐसा पानी बताता हूँ कि जिसमे स्नान करने मे पाप नही लगेगा।

'दया' के पानी से स्नान कर ! अरे, दया के शीतल, स्वच्छ सरोवर मे ही कूद पड । हा, सरोवर मे स्नान करने का निषेध करने वाले ज्ञानी पुरुष भी तुझे इस दया रूपी सरोवर में स्नान करने से मना नही करेगे ।

जब तू इस दया सरोवर मे स्नान करके बाहर आयेगा तब तेरा हृदय खुशी से लोट पोट हो जायेगा । क्रूरता का मैल धुल जायेगा और करुणा की कमनीयता छा जायेगी और तू स्वच्छ पवित्र बन जायेगा ।

हे साधक ! स्नान करके तुझे नये वस्त्र ही पहनने हैं... शुद्ध श्वेत वस्त्र । तू पहनेगा ? इन वस्त्रों मे तू सुन्दर लगेगा । तुझे अहसास होगा कि 'मैं पूजक हू ।' इस वस्त्र का नाम है 'सतोष ।' कितना प्यारा नाम है । तृष्णा के पुद्गल के वस्त्र पहन कर तू पूजक नही बन सकता है । तृष्णा में रति-अरति के द्वन्द्व है, आनन्द-उद्वेग की तरगे है । इन तृष्णाओं के रग रंगीले वस्त्र पहन कर तू पूजक नही बन सकेगा । इसलिए तुझे सतोष के वस्त्र पहनने हैं । एक बार ये वस्त्र पहन कर पूजक बन, अगर तुझे ये अच्छे लगे तो दूसरी बार पहनना । अर्थात् तुझे पौद्गलिक पदार्थो की तृष्णा छोड़नी पड़ेगी, अगर तुझे पूजक बनना है तो !

अरे, तू कहा चला ? पूजन के लिए ? ठहरो भाई, इस देव मन्दिर मे जाने से पहले तुझे 'तिलक' करना पड़ेगा । ललाट पर तिलक किये बिना, तू देव मन्दिर में नहीं जा सकेगा । तेरी काया दया रूपी जल से कितनी सुन्दर बनी है । संतोष रूपी वस्त्र धारण करने से तू कितना आकर्षक लग रहा है ? अब तू

'विवेक' का तिलक करके देख, तेरे रूप की प्रशंसा देवराज इन्द्र भी करेंगे।

'विवेक का तिलक'! विवेक का अर्थ है भेद ज्ञान। जड-चेतन का भेद समझ कर, चेतन आत्मा की तरफ जाना। जड पदार्थों मे अर्थात् शरीर मे जो आत्म बुद्धि है वह छोड कर 'शरीर से मैं (आत्मा) भिन्न हूँ' ऐसी श्रद्धा दृढ करना, 'शुद्धात्म द्रव्य मेऽहम्' 'मैं शुद्ध आत्म द्रव्य ही हू' इस ज्ञान से मन को अनुकूल करना, यह है विवेक। ऐसे विवेक का तिलक पूजन के लिए अनिवार्य है। इस विवेक-तिलक से तेरी सुन्दरता के साथ-साथ तेरा आत्म विश्वास भी जागृत होगा कि 'मैं पूजक हू।'

अब तुझे तेरे विचारो को पवित्र बनाना है। अगर तू परम आत्मा का पूजन करने का इच्छुक है तो परमात्मा के गुणों मे तन्मय होने की भावना द्वारा तुझे अपने विचार पवित्र बनाने होंगे। अर्थात् दूसरे भौतिक आधिभौतिक अपवित्र कामनाओ को छोड कर परमात्मा के गुणो की एक मात्र अभिलाषा लेकर परमात्म मन्दिर के द्वार पर पहुँचना है। जब तक परमात्म गुणों का एक मात्र आकर्षण, परमात्म गुणों का ध्यान नही होगा तब तक आशय मे पवित्रता नही आयेगी। देव पूजन के लिए आशय की पवित्रता अत्यावश्यक है।

बस, अब केसर की स्वर्ण कटोरी भर ले। लो यह केसर और चन्दन घिसने लगा। भक्ति का केसर श्रद्धा के चन्दन से खूब घिसो। भक्ति का लाल रंग और श्रद्धा की मन्द मन्द सुगंध। इस केसर मिश्रित चन्दन की स्वर्ण कटोरी भर लो।

आराध्य परमात्मा की आराधना रग-रग में होनी चाहिए और ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिए कि 'परमात्म आराधना

ही परमार्थ है।' मीरां का उदाहरण लीजिए, कृष्ण भक्ति एवं श्रद्धा ने उसे अमर बना दिया। उसकी दुनिया ही कृष्णमय हो गई थी।

अब मन्दिर में चलो।

इस मन्दिर को बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, न कहीं दूर जाने की आवश्यकता है, आप अपने शरीर की तरफ देखें। मन मन्दिर में ही देव प्रतिष्ठित है। इस देव के दर्शन के लिए आखे मूदनी पड़ेगी और आंतरदृष्टि खोलनी पड़ेगी.... दिव्य दृष्टि....दिव्य विचार का सहारा लेना पड़ेगा।

शुद्ध आत्मा का आपको नौ अगों का पूजन करना है।

ब्रह्मचर्य के नौ विधान ये शुद्ध आत्मा के नौ अंग है।

हे पुजारी! तू शुद्ध आत्म स्वरूप की तरफ अभिमुख हुआ है। दया, संतोप, विवेक, भक्ति एवं श्रद्धा में तू लवलीन बना है। अब ब्रह्मचर्य का पालन तेरे लिए सहज सरल है। अब्रह्म की दुर्गन्ध भी अब तुझे असह्य होगी। तेरी दृष्टि रूप पर्याय में स्थिर होगी ही नही, शरीर पर्याय की तरफ भी आकर्पित नही होगो। तेरी दृष्टि तो विशुद्ध आत्म द्रव्य पर ही स्थिर होगी। फिर स्त्रियो के साथ रहना, उनसे वार्तालाप करना, उनके आसन पर बैठना या स्त्री पुरुप की काम कथा कान लगा कर सुनना तेरे जीवन मे हो कैसे सकता है? घी, दूध या माल मिष्ठान्न की महफिलों मे मस्त रहना या सुस्वादु भोजन पर अकाल पीड़ित की तरह टूट पड़ना तेरी कल्पना में भी कैसे हो सकता है? शरीर पर शृंगार करना या अन्य जीवो को आकर्पित करने का स्वप्न भी कहां से हो।

हे प्रिय पूजक! पूज्य उपाध्यायजो ने आपको कितना

रोमाचकारी पूजन बताया है। यह है भाव पूजन। अनेक वर्षो तक अपन द्रव्य पूजन न करे और इस भाव पूजन की तरफ आख उठाकर भी नही देखे तो क्या पूर्णता के शिखर पर पहुँच सकते हैं ? यह दिव्य पूजन अपन को हमेशा करना है ?

एकात नीरव जगह पर बैठकर, पद्मासन लगाकर एव आँखे मू द कर यह पूजन प्रारम्भ करे। भले ही उसमे समय ज्यादा लगे पर चिता न करे। शुद्ध आत्म द्रव्य का घटो तक पूजन चलने दे। अध्यात्म का आन द, पूर्णान द का अनुभव होगा और साधना पथ का मूल्य समझ मे आयेगा। भाव पूजा की यह कोरी कल्पना ही नही है परन्तु रस से लबालब कल्पना लोक है। विषय विकारो का निराकरण करने का प्रशस्त पथ है। रचनात्मक मार्ग है। स्नान से शुरू करके नव अ ग पूजन का क्रम चालू करे।

> क्षम पुष्पस्रज धर्मयुग्म क्षौमद्वय तथा।
> ध्यानाभरण सार च तदङ्गे विनिवेशय ॥३॥२२७

श्लोकार्थ

यह आत्मा को क्षमा रूप फूल की माला, निश्चय और व्यवहार धर्म रूप दो वस्त्र और ध्यान रूप श्रेष्ठ अलकार पहनाते हैं।

विवेचन

आत्म देव के गले पहनाने की माला जो गू थनी है वह माला तु झे ही गू थनी है। क्षमा के भीने भीने सुवासित पुष्प की माला गू थ कर तैयार रख।

क्षमा के एक दो पुष्प नही, क्षमा की पूरी माला। अर्थात् कभी कदाच क्षमा करने से काम नही चलेगा। परन्तु बराबर क्षमा देनी पडेगी। क्षमा हृदय में बसानी पड़ेगी..............क्षमा के पुष्पो की सुन्दर सुवास तुम्हारे अंगों से प्रस्फुटित होती रहे। जिस मनुष्य के गले में गुलाब के पुष्प की माला हो और अगर उसके पास कोई जाये तो कौन सी सुगन्ध आवेगी ? गुलाब की। इसी तरह से साधक ! कोई तेरे पास आवे वह क्षमा के सुवास से मस्त हो जावे। चाहे साधु हो या डाकू, ज्ञानी हो या अज्ञानी, निर्दोष हो या सदोष।

ध्यान रहे ये क्षमा के पुष्प कुम्हला न जाये। इन्हें खिले हुए ताजे रक्खे। कभी भी अर्पित करने पड़ सकते है। जब अपने ऊपर कोई क्रोध करे द्वेष करे, अपनी निंदा करे या अपमान भी करे तो भी अपन को क्रोध नही करना है। उनके जैसा व्यवहार भी नही करना है.... .. ....न उनके प्रति अनमनापण रखना है। इसे क्षमा कहते है। आत्मा को सुरम्य, सुगन्धित पुष्पो की माला पहनाने का यह रहस्य है। आत्मा की यह पुष्प पूजा है... ....। इस रहस्य के प्रतीक स्वरूप गृहस्थ परमात्मा की मूर्ति पर पुष्प चढ़ाते है............पुष्प की माला पहनाते है।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म ये दो शुभ वस्त्र स्वयं के आत्मदेव को पहनाने है शरीर पर दो वस्त्र तो चाहिए ही ? एक अधोवस्त्र दूसरा उत्तरीय। आत्म देव के दो वस्त्र है निश्चय और व्यवहार। अकेले निश्चय या अकेले व्यवहार से काम नही चलेगा। व्यवहार धर्म अधोवस्त्र है और निश्चय धर्म उत्तरीय है। दोनो की आवश्यकता है।

माला और वस्त्र पहनाने के बाद अलकार से भूपित किये

बिना आत्म देव शोभायमान नही होगा । अलकार का नाम है 'ध्यान । धम ध्यान एव शुक्ल ध्यान आत्मा के अलकार हैं । अलकार मूल्यवान होते है और उनकी सुरक्षा की आवश्यकता । शरीर धारण करने के बाद चोर डाकुओ से सतक रहना पडता है अपना धर्म ध्यान कोई लूट न ले इसके लिए सावधान रहना जरूरी है ।

आत्मा की शोभा ध्यान से है । ध्यान के चार आलबन है, वाचना, पृच्छना, परावतना और धम कथा मे हमेशा लीन रहना चाहिए । श्रुतज्ञान की रमणता, चार प्रकार की अनुप्रेक्षा करनी चाहिए । अनित्य भावना हृदयगम कर, अशरण भावना से भावित हो । एकत्व भावना और ससार भावना का चितन करे । आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय का चितन करे ।

इस तरह आत्मा का पूजन करना है ।

(1) क्षमा के पुष्पो की माला पहननी है ।
(2) निश्चय धम और व्यवहार धर्म रूपी दो वस्त्र पहनने हैं ।
(3) धम ध्यान-शुक्ल ध्यान के अलकार पहनने हैं ।

आत्मदेव कितना नयन-रम्य होगा ? उनके दशन करते ही मन आह्लादित होगा और इनके सिवाय किसी के भी दशन रुचिकर नही लगेंगे ।

मदस्थान भिदात्यागैर्लिखाग्रे चाष्ट मङ्गलम् ।
ज्ञानाग्नौ शुभसकल्पकाकतुण्ड च धूपय ।।४।।२२८

श्लोकार्थ

आत्मा के सामने मदस्थान के भेदो का त्याग करने के लिए आठ मगल (स्वस्तिकादि) आलेख और ज्ञान रूपी अग्नि में शुभ संकल्प रूपी कृष्णागरु का धूप करे।

विवेचन

वर्तमान में चल रही पूजन विधि में अष्टमगल ❀ का आलेखन नही किया जाता है परन्तु अष्टमगल की चौकी का पूजन किया जाता है।

आलेखन करना है ?

आठमद के त्याग का उद्देश्य है ?

एक एक मगल का आलेखन करते जायें और एक एक मद को त्याग करने की भावना जागृत करे।

कर्म से असहाय जीव एक योनि से दूसरी योनि मे जाते है, आते है, वहाँ किसी की जाति शाश्वत रह सकती है ? मैं जाति का अभिमान नही करूँगा।

❀ अगर शील अपवित्र है तो कुल का अभिमान करने से क्या ? और अगर गुणों का वैभव है तो भी कुल का अभिमान क्यो ?

❀ अस्थि मज्जा, मांस एव खून आदि गदे पदार्थो से भरा हुआ और व्याधि-वृद्धावस्था से ग्रसित शरीर के सौन्दर्य ऊपर गर्व कैसा ?

❀ अष्टमंगल के नामः श्री वत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, मत्स्ययुगल, दर्पण, भद्रासन, सरावल, कुम्भ।

❀ बलवान् मनुष्य क्षण भर मे निर्बल हो जाता है। और निबल बलवान हो जाता है। बल अनियत है इस पर गव क्यो किया जाये ?

❀ भौतिक पदार्थो की प्राप्ति या हानि कर्माधीन है तो मुझे लाभ मे क्यो खुश होना चाहिए ?

❀ अतीत के महापुरुषो के अनन्त विज्ञान की कल्पना करता हू तो मेरी बुद्धि बौनी सी लगती है। फिर बुद्धि का अभिमान क्यो करना ?

❀ तप का अभिमान ? बाह्य–आभ्यतर तप की घोर, निश्चल, और कठोरतम एव उग्र आराधना करने वाले महान् तपस्विया को देखता हूँ तब मेरा मस्तक झुक जाता है।

❀ ज्ञान का मद तो कैसे हो सकता है ? जिनके सहारे तिरना है उसी का आलबन लेकर कौन डूबना चाहेगा ? स्थूलभद्रजी का उदाहरण ज्ञान भेद नही करने देगा।

यह है अष्ट मगल का आलेखन। आत्मदेव के पूजन मे यह विधि जरूर करनी चाहिए।

अब धूप पूजा करनी है।

साधारण धूप नही चलेगा। कृष्णागरू धूप चाहिये। वह है शुभ सकल्प।

ज्ञान रूप अग्नि मे शुभ सकल्प का धूप डाल कर आत्म मदिर मे सुवास फैलानी है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान। मात्र आत्मरमणता। कोई अशुभ तो नही, शुभ सकल्प भी नहा चाहिए। परमात्म पूजा मे प्रशस्त राग होता है परमात्मा के प्रति राग

में समन्वय क्रिया और आरती में योग संन्यास का समन्वय करिये।

योग सन्यास यानी योग का त्याग। काया आदि के कार्यो का त्याग। कायोत्सर्गादि क्रियाओं का भी त्याग करना। यह त्याग केवल ज्ञानी भगवान करते है अपने को तो सिर्फ इसके कल्पना लोक में विचरण करके कुछ क्षणों के लिए केवल ज्ञानियों के संसार का आस्वादन लेना है।

आत्म देव की आरती करने के लिए 'सामर्थ्य योगी' तो अपन नहीं बन सकते परन्तु 'इच्छा योगी' बन कर धर्मसंन्यास और योग सन्यास की मधुरता तो प्राप्त कर सकते है।

आत्मा की उच्चतम अवस्था का यहाँ प्रतिपादन है। पूजा के माध्यम से यह अवस्था यहाँ बताई गई है ज्ञान योगी कैसे पूजन करते हैं उसका उल्लेख किया है। यह पूजन ज्ञान योगी ही कर सकते है। सामान्य ज्ञानी भी इस पूजन को कर सकता है परन्तु विशेपकर ज्ञान परायण मुनिवरो के लिए यह पूजा विधि बताई गई है। सयमी एवं ज्ञानी महात्मा यह अद्‌भुत अपूर्व पूजन करके दिव्य आनद अनुभव करते है।

इस प्रकार लवण एव आरती उतारने की विधि बताई गई है।

स्फुरन्मङ्गलदीप च स्थापयानुभव पुरः।
योग नृत्ययस्तौर्य त्रिक सयमवान् भव ॥६॥२३०

श्लोकार्थ

अनुभव से स्फुरित मगल दीपक को सामने (आत्मा के) रख कर सयम रूप नाटक पूजा मे तत्पर गीत, नृत्य एव वाद्य इन

तीनों के समान सयम वाला बन। (एक विषय मे निश्चय ध्यान और ममाधि को सयम कहते है।)

विवेचन

अब चले, दीपकपूजा करते हैं।

आत्मदेव के सम्मुख दीपक को स्थापित करना है। अनुभव यह दीपक है। अनुभव की परिभाषा पूज्य उपाध्यायजी ने दी है।

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्या केवलश्रुतयो पृथक्।
बुधैरनुभवो हष्ट केवलार्कारुणोदय ॥

जिस तरह दिन एव रात्रि से सध्या अलग है, इसी तरह केवल ज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न केवल ज्ञानरूपी सूर्य के अरुणोदय समान यह अनुभव' है। विद्वानो ने अनुभव की यह व्याख्या की है, यह केवलज्ञान की निकटतम अवस्था है। ऐसे अनुभव से आत्मदेव के दीपक की पूजा करनी है।

इस दीपक के प्रकाश मे ही आत्मदेव का सच्चा स्वरूप देख सकते है। अतीन्द्रिय परब्रह्म का दर्शन विशुद्ध अनुभव से ही होता है। शास्त्रो की सैकडो हजारो युक्तियो से भी अतीन्द्रिय परब्रह्म के दर्शन नही होते है परन्तु शास्त्र के माध्यम से तो अपन इस अनुभव की कल्पना कर सकते हैं। केवलज्ञान के अरुणोदय की ललाई की कल्पना कितनी मोहक है!

अब पूजन करना है—नृत्य वाद्य और गायन से? आत्म देव के समक्ष गीत गाओ। ऐसा गीत गाओ कि मन की सब वृत्तिया इसमें केन्द्रित हो जावे। गाते जाये और नृत्य करते

जावे। हाथ में वाद्य लेकर नृत्य करे। वाजित्र इतनी दक्षता से वजावे कि तुम्हारे कण्ठ के कोमल स्वर भी फीके लगें और नृत्य से एक उत्साह भरा वातावरण पैदा करदें। धारणा-ध्यान और समाधि इन तीनों की तारतम्यता रूप संयम यह आत्म देव का श्रेष्ठ पूजन है। एक ही विषय में इन तीनों का ऐक्य होना चाहिए। आत्मा में धारणा-ध्यान और समाधि की एकता स्थापित करनी है।

संयम का यह उच्चतम शिखर बताया गया है। योग की सर्वोत्कृष्ट भूमिका बताई गई है। आत्मा का पूजन द्वार खोला गया है। जैसे कोई अद्वितीय स्वर सम्राट मस्ती में झूमता हुआ सुरीले कर्ण प्रिय गीत गाता हो....कोई निपुण नृत्यांगना अपने नृत्य के चमत्कार प्रदर्शित कर रही हो और इनके साथ वीणावादक भी सुरीले सुरों से वातावरण आलोक मय करता हो उस समय अद्भुत तन्मयता का वातावरण प्रसारित होता है। उसी तरह धारणा-ध्यान और समाधि की एकता में संयम का अपूर्व वातावरण बनता है।

आत्म देव का मन्दिर उस समय कितना महकता हुआ पवित्र एवं प्रफुल्लित हो जाता होगा इसकी स्थिर मन से कल्पना करें इस कल्पना की दुनिया में रम जाने से इसकी कुछ झलक मिल सकती है।

स्वरूप में तन्मय होने का यह उपदेश है। स्वभाव दशा में जाने की यह प्रेरणा है। आत्म रमणता एवं ब्रह्म में लवलीन होने की ये बातें हैं। पूजन के स्थूल साधन के आधार से पू० उपाध्यायजी मोक्षार्थी को मार्ग दर्शन दे रहे हैं।

उल्लसन्मनस सत्यघटा वाद्यतस्तव ।
भाव पूजा रतस्येत्थ कर क्रोडे महोदय ॥७॥२३१

श्लोकार्थ

उल्लसित मन वाले सत्य रूप घटा बजाने वाले और भाव पूजा मे लीन रहने वाले मनुष्य की हथेली मे मोक्ष है ।

विवेचन

भक्ति और श्रद्धा के केसर से आत्म देव के नौ अ गो को सुशोभित किया । क्षमा के पुष्पो की माला से आत्म देव की छटा मे अभिवृद्धि की । निश्चय और व्यवहार के उत्तम वस्त्र पहनाकर आत्मदेव का शृ गार किया, और ध्यान के अ लकार से इस देव को दीप्तिमान किया ।

आठमद के त्यागरूप अष्टमगल का आलेखन किया । ज्ञान की अग्नि मे शुभसकल्पो का कृष्णागरू धूप डालकर मन्दिरो को सुगन्ध से सुवासित किया धम सन्यास की ज्वाला से लवण उतारा और सामर्थ्य योग की आरती उतारी । अनुभव का मगलदीप इस महादेव के समक्ष स्थापित किया और धारणा–ध्यान–समाधिरूप गीत नृत्य और वाद्य से ठाठ जमाया ।

मन के उल्लास की सीमा न रही मन की मस्ती ने इस मदिर मे लटकता विराट घटा हिचकाले खाने लगा घटानाद से मन्दिर घनघना उठा पूरानगर झनझना उठा । इस घटानाद की ध्वनि ने विश्व को विस्मित किया । देवलोक के महल और महेन्द्र भी कपायमान होने लगे "यह क्या ? किसकी ध्वनि ? अवधिज्ञान से देखा !

ओ हो ! यह तो सत्य की ध्वनि ! परम सत्य की ध्वनि ! उस आत्मदेव के मन्दिर मे सत्य का साक्षात्कार हुआ है। उस का घटानाद है। आत्मदेव आत्मा से प्रसन्न हुआ है। पूजन का सत्यफल प्राप्त हो गया है ! उसकी खुशी का यह घंटानाद है।

चराचर विश्व मे सत्य एक ही है, परमार्थ एक ही है ? एक मात्र आत्मा ! एक मात्र परम ब्रह्म ! शेष सब मिथ्या है। इस परम सत्य के संसार का नाम मोक्ष है।

पूज्य यशोविजयजी मोक्ष को हथेली मे बताते है ! भाव पूजा मे लीन हो जाओ ....बस, मोक्ष आपके हाथ में है ! द्रव्यपूजा के प्रतीकों के माध्यम से मोक्ष तक पहुंचाने वाली भावपूजा यहाँ बताई गई है ! यह तात्त्विक पूज करने के लिए शास्त्र अध्ययन एवं शास्त्र परिशीलन करना पड़ेगा ! शास्त्र—ग्रन्थो में बताये हुए क्रमिक आत्म विकास के साथ कदम मिला कर चलना पड़ेगा।

आत्मदेव की भावपूजन की कैसी अनोखी दुनिया है। इस स्थूल ससार से बिलकुल निराली। न वहाँ इस विश्व के स्वार्थमय प्रलाप हैं और न कषाय मिश्रित कोलाहल। न वहाँ है राग एवं द्वेष के दावानल और न है अज्ञान और मोह का तूफान ! न वहाँ है स्थूल व्यवहार की टेढी-मेढी गलियाँ और न वहाँ है चंचलता—अस्तित्व के सकल्प विकल्प।

मोक्ष दशा को खोजता हुआ साधना पथ पर दौडता हुआ जीव जब इस भावपूजा मे प्रवृत्त होता है तब उसे अपनी खोज पूर्ण होती सी लगती है। हथेली मे मोक्ष दिखता है।

भावपूजा की लीनता पर सब आधार है। लीनता के लिए लक्ष्य शुद्धि आवश्यक है। आत्मा की परम विशुद्ध दशा

के लक्ष्य से भावपूजा मे प्रवृत्ति हो तो लीनता आये बिना न रहे। साधक आत्मा का यही लक्ष्य और प्रवृत्ति होनी चाहिए। साधना का आनद तभी अनुभव होता है और प्रगति के पथ पर आगे बढ सकते हैं।

द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनाम्।
भावपूजा तु साधुनाम् भेदोपासनात्मिका ॥८॥ २३२ ॥

श्लोकार्थ

गृहस्थो को भेदपूर्वक उपासनारूप द्रव्यपूजा योग्य है और अभेद उपासना रूप भावपूजा तो साधुओ को योग्य है। (जो कि गृहस्थो को 'भावनोपनीत मानस' नामक भावपूजा होती है।)

विवेचन

पूजा दो प्रकार की है।

द्रव्यपूजा और भावपूजा।

जिसे जो अच्छी लगे वह पूजा नही करनी है। परन्तु अपनी योग्यतानुसार पूजा करनी चाहिए। आत्मा के विकास के अनुसार पूजा करनी चाहिए। योग्यता के अनुसार की हुई पूजा कल्याणकारी होनी है अगर पूजा करने की योग्यता न हो तो पूजा करने से नुकसान होता है।

घर मे रहे हुए पाप स्थानको या मन से, वचन से, सेवन करने याने गृहस्थो के लिए द्रव्य पूजा है। उसे द्रव्यपूजा करनी चाहिए। द्रव्यपूजा मे भेदोपासना आती है।

पूज्य है परमात्मा, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, वीतरागता और अनत वीर्य के स्वामी। अजर-अमर और अक्षय स्थिति को प्राप्त। अपनी आत्मा से भिन्न ऐसे परमात्मा का आलम्बन लेना चाहिए। ये उपास्य और गृहस्थ उपासक। वे स्वामी और गृहस्थ सेवक। वे आराध्य और गृहस्थ आराधक, वे ध्येय और गृहस्थ ध्याता।

गृहस्थ उच्चकोटि के द्रव्यों से परमात्मा की मूर्ति को पूजे। उसके लिए उसे जयणायुक्त आरम्भ-समारम्भ करना पडे तो वह भी करे। परमात्मा के गुण प्राप्त करने के लक्ष्य से इनकी भक्ति और उपासना करे।

तो क्या गृहस्थ को भाव पूजा करनी ही नहीं चाहिए?

नहीं, कर सकते हैं परन्तु वे "भावनोपनीत मानस" नामक भाव पूजा कर सकते है। अर्थात् परमात्मा के गुणों का स्मरण और इनके परमतत्व के प्रति बहुमान, गृहस्थ कर सकते है यह भाव पूजा है। परन्तु वह सविकल्प भाव पूजा है। वे गीत गा सकते हैं, नृत्य कर सकते है। भक्ति में लवलीन हो सकते है।

अभेद उपासना रूप भाव पूजा तो सिर्फ साधु ही कर सकते है। आत्मा की उच्च विकास-भूमिका पर रहे हुए निर्ग्रन्थ परमात्मा के साथ अभेदभाव से मिलते है। परमात्मा के साथ स्वयं की आत्मा की एकता ......तन्मयता प्राप्त करे ......यह भाव पूजा है।

द्रव्य पूजा और भाव पूजा के भेद यहां भेदोपासना और अभेदोपासना की दृष्टि से बताये गये है। अभेदोपासना रूप

भाव पूजा का अधिकारी मात्र श्रमण—निगन्थो को ही बनाया है।

परमात्मस्वरूप के साथ आत्म गुणो की एकता की अनुभूति करने वाला मुनि कैसा परमानन्द अनुभव करता है यह शब्दो मे वर्णन नही किया जा सकता है। अभेदभावना के मिलन की मधुरता तो सवेदन से ही होती है, भाषा से नही।

इस अष्टक मे पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने भाव पूजन का खूब सचोट मार्ग दर्शन किया है सफलता से समझाया है और इस भाव पूजा मे प्रवृत्त होने के लिए मुनि को उपदेश दिया है। अभेदभाव से परमात्मस्वरूप की उपासना की दिशा निर्देश की है।

गृहस्थ वर्ग के लिए भी भाव पूजा के प्रकार बताकर, गृहस्थो को भी भेदोपासना की उच्च कक्षा बनाई है जिसमे गृहस्थ भी परमात्मा की उपासना मे प्रवृत होकर आत्महित साधन कर सकते हैं। आत्महित आत्म कल्याण के लिए ही जो जीवन जीना है उन्हें यह त्रिविध उपासना का मार्ग अत्यन्त रुचिकर लगेगा और वे इस दिशा मे प्रवृत्त होगे।

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

३०. ध्यान

मुनिजीवन में ध्यान का स्थान कितना महत्वपूर्ण है, यह बात इस अष्टक में पढ़िये। ध्याता–ध्येय ओर ध्यान के एकाकार में मुनि को दुःख न हो।

परन्तु ध्याता जितेन्द्रिय, धीर, प्रशान्त और स्थिर होना चाहिए। आसन सिद्ध और प्राणायाम प्रवीण होना चाहिए। ऐसा ध्याता मुनिवर चिदानन्द की मस्ती अनुभव करता है।

कल्पनाओं विकल्पों और विचारों से मुक्त हो जाओ। विचारों के भार से मन दब न जावे। पार्थिव जगत से आपके मन को मुक्त करो। निर्बन्धन बनकर ध्येय के साथ एकाकार हो जाओ। ध्यान के इस प्रकरण का चिंतनपूर्वक अभ्यास करो।

ध्याता ध्येय तथा ध्यान त्रय यस्यैकता गतम् ।
मुनेरनन्य चित्तस्य तस्य दु ख न विद्यते ॥१॥ २३३

श्लोकार्थ

जहा ध्यान करने वाला, ध्यान करने योग्य और ध्यान इन तीनो का समन्वय हो गया है और जिनका चित्त अन्य स्थान मे नही भटकता है ऐसे मुनि को दु ख नही होता है ।

विवेचन

मुनि ! फिर तुझे दु ख किसका ? तू दु खी हो ही नही सकता । तू तो इस विश्व का श्रेष्ठ एव सुखी मनुष्य है ।

पाच इन्द्रियो का कोई भी विषय तुझे दु खी नही कर सकता । वैषयिक सुखो की प्राप्ति मे नही अपितु त्याग मे ही तूने सुख माना है । वैषयिक सुखो के न मिलने से दुनिया दु ख से आह भरती है परन्तु तूने तो अपने जीवन का आदर्श ही सुख का त्याग बनाया है । पाच इन्द्रियो को तूने वश में किया है व तेरी आज्ञा बिना बिलकुल ही बाहर नहीं निकलती है । इन्हो ने तेरा मन भी वैषयिक सुखो से निवृत कर दिया है ।

ससार के भावो से निवृत्त हुआ मन तेरे महान् 'ध्यान' में लीन है । ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकाकारता वे सिद्ध करते हैं । फिर उन्हें दु ख होगा ही नही ।

मुनिराज ! तुम्हारी साधना यानी वैषयिक सुखो से निवृत्त होने की साधना । जैसे जैसे तुम इन सुखो से निस्पृह बनते जाओगे वैसे वैसे कषायो मे भी निवृत्त होते जाओगे । वैषयिक सुखो की इच्छा ही कषायो का प्रबल निमित्त है । शब्द,

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सुखों की इच्छा को नाश करने को ही तुम्हारी आराधना है। इसलिए आपको अपने मन को एक पवित्र स्थल मे बाध देना है। ध्येय के ध्यान मे आप लीन हो जाओ। आपकी मानसिक सृष्टि में इस महान् ध्येय के सिवाय किसी को भी प्रवेश न करने दो।

हा ! इस ध्येय से मन डिगा और दूसरे किसी विषय पर ज़म गया तो आपका सुख काफूर हो जायेगा। विश्वामित्र ऋषि का मन ध्येय से चलायमान हो गया और मेनका की तरफ आकर्षित हुआ तब उसका सुख विषमय वन गया था, यह आप जानते ही है। नदिषेण और आषाढाभूति के दृष्टांत इसके ज्वलत प्रमाण हैं।

आप एक ही काम करे। वैषयिक सुखो को स्पृहा मन से कुरेद कुरेद कर वाहर फेंकिये। इसके लिए वैषयिक सुखो पर विचार न करे। वैषयिक सुखों के नुकसान और असारता का चिंतन अव न करे। अव तो आप 'ध्येय' में लीन होने का प्रयत्न करें। जैसे जैसे यह लीनता वढती जायेगी वैसे २ ही आप का सुख वढता जावेगा। आपको अनुभव होगा कि 'मै सुखी हूं, मेरा सुख वढ रहा है।"

आप मुनि वन गये हैं इसलिए अव आपकी यह शिकायत नही होनी चाहिए कि 'ध्येय में मन स्थिर नही होता है।" जिस ध्येय के लिए आप ससार छोड़कर साधु वने हैं, उस ध्येय में आपका मन नही लगे, यह हो ही नही सकता। जिस ध्येय के लिए आपने कितने ही वैषयिक सुख त्याग दिये हैं उस ध्येय के ध्यान मे आपको आनद अनुभव न हो यह कैसे मान सकते है।

हा, आप ध्येय ही भूल गये हों और ध्येय हीन जीवन जीते हों तो आपका मन ध्येय के ध्यान में स्थिर नही रहेगा।

और आप सुखी भी नहीं होंगे। आप अपने को दुःखी मानते हैं। फिर आप भले ही 'पापोदय' का बहाना बनावें या 'भवितव्यता को दोष दें।

ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता का समय ही परमानन्द का समय है परमब्रह्म की मस्ती की घडी है। मुनि जीवन जीने का एक अपूर्व अवसर है। एकाकार बन कर ध्येय में लयलीन बन जावो।

> ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तित ।
> ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्ति समापत्तिस्तदेकता ॥२॥२३४

श्लोकार्थ

ध्यान करने वाला अंतरात्मा है, ध्यान करने योग्य तो परमात्मा कहे हैं और ध्यान एकाग्रता की बुद्धि है। इन तीनों की एकता ही 'समापत्ति' है।

विवेचन

अन्तरात्मा बने बिना ध्यान नहीं कर सकते हैं। बाह्य आत्मदशा का त्याग कर अन्तरात्मा बन कर ध्यान करना चाहिए। यदि अपने में सम्यग्दर्शन है तो आप अन्तरात्मा हैं।

जिसकी दृष्टि सम्यक् हो वही ध्येय रूप परमात्मा को देख सकता है अर्थात् तदाकार हो सकता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को ही ध्यान करने का अधिकार दिया है।

ध्यान करने योग्य है सिद्ध परमात्मा। आठों कर्मों के क्षय से जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रगट हुआ है वही शुद्धात्मा

ध्येय है अर्थात् घातकी कर्मों को क्षय कर जो अरिहंत बने है वे ही ध्येय हैं। प्रवचनसार में कहा है :

'जो जाणदि अरिहते दव्वत्त–गुणत्त–पज्जवत्ते हि
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

जो अरिहत को द्रव्य–गुण और पर्यायरूप से जानते है वे आत्मा को जानते है और उनका मोह नाश होता है।

अरिहत को ध्येय बनाकर अन्तरात्मा का ध्यान करे। ध्यान यानी एकाग्रता की बुद्धि सजातीय ज्ञान की धारा, अन्तरात्मा ध्येयरूप अरिहंत मे एकाग्रता हो जावे। अरिहंत के द्रव्य, गुण और पर्याय ये सजातीय ज्ञान है। द्रव्य से अरिहन्त का ध्यान, गुण से अरिहन्त का ध्यान और पर्याय से अरिहन्त का ध्यान धरना चाहिए।

ध्यान शतक मे ध्यान का रूप बताया है।"

जथिरमज्भवसाणं तं भाणं चल तव चित।
तं होज्ज भावणा वा अणुप्पेहा व अहव चिता ॥

अध्यवसाय यानी मन। स्थिर मन ही ध्यान है और चंचल मन चित्त कहलाता है। ध्यान की क्रिया चाहे भावना, अनुप्रेक्षा या चितनरूप हो।

हे जीव ! तू अंतरात्मा बन। तू विभावदशा से निवृत्त हो स्वभावदशा की तरफ मुड। आत्मा से परन्तु…… …आत्मा से भिन्न द्रव्यों की तरफ देखना बन्द कर अर्थात् जड़द्रव्य और उनके पर्याय के आधार पर राग द्वेष करना बन्द कर। जब तक तू बाह्यआत्मदशा में भटकता रहेगा तब तक ध्येयरूपी परमात्मा

मे तू एकाग्र नही हो सकता है। इसलिए अन्तरात्मा बन। अन्तरात्मा ही एकाग्र बन सकती है। परमात्मस्वरूप की एकाग्रता बाह्यआत्मा के भाग्य मे होती ही नही है।

हे आत्मा ! जो तू सम्यग्दृष्टि है तो तू ध्येय मे लीन हो सकता है। अगर अन्तरात्मा नही है और सिर्फ सम्यग्दृष्टि होने का दावा करता है तो तू एकाग्र नही बन सकेगा। ध्येय का ध्यान नही धर सकता है। सम्यग्दर्शन के साथ अन्तरात्मदशा होनी ही चाहिए।

अरिहत का विशुद्ध और परमप्रभावक आत्म द्रव्य का ध्यान धर। इनके अनतज्ञानादि गुणो का चिंतन कर। इनके अष्टप्रतिहार्य आदि पर्यायो का ध्यान धर। अरिहतरूपी पुष्प पर मडराता हुआ भ्रमर बन जा। अरिहत के सिवाय तुझे कुछ भी अच्छा नही लगे, अरिहत को छोडकर कही पर भी जाना रुचिकर नही लगना चाहिए। तेरी मानसिक सृष्टि मे अरिहत के सिवाय कुछ भी न हो।

यह है ध्याता–ध्यान और ध्येय की समापत्ति।

मणाविव प्रतिच्छाया समापत्ति परात्मन
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले ॥३॥ २३४

श्लोकार्थ

मणि की तरह, क्षीण वृत्तिवाले शुद्ध अन्तरात्मा मे ध्यान से परमात्मा का जो प्रतिबिंब होना है उसे समापत्ति कहते है।

विवेचन

मणि ... उत्तम स्फटिक मे कभी परछाई
हुई देखी है ... नही देखा हो तो स्फटिक मणि
अपना ... होगा ?

मणि हो, स्फटिक हो, या काच हो परन्तु वे मैले नही होने चाहिए, स्वच्छ होने चाहिए। निर्मल होंगे तो ही दूसरे पदार्थो का प्रतिबिंब पडेगा।

आत्मा यदि गंदा हो, मैला हो..........तो भी क्या इसमें परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ेगा ? कितनी भी कोशिश करो तो भी मलीन आत्मा में कभी भी परमात्मा का प्रतिबिंब नही पडेगा। परन्तु प्रश्न एक ही है कि अपनी आत्मा मे परमात्मा का प्रतिबिंब पडे—ऐसी अपन इच्छा रखते है ? तो आत्मा को उज्ज्वल बनावे।

क्षीणवृत्ति बन जाइये, वृत्तियों का क्षय। इच्छाओं का क्षय। ये वृतियाँ और इच्छाये ही अन्तरात्मदशा के महान् अवरोधक हैं। आत्मा की मलिनता है। इस मलिनता को दूर करने से आत्मा मणि के समान स्वच्छ एव पारदर्शक बन जाती है। इसमें परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ता है।

अन्तरात्मा निर्मल हो और एकाग्रता हो तब परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ता है, यही समापत्ति है।

यहाँ महत्वपूर्ण बात है क्षीणवृत्ति बनने की। इच्छाओ से मुक्त होने की। इच्छाये ही एकाग्रता मे विघ्न है। इच्छाये ही परमात्म स्वरूप के साक्षात्कार में अवरोधरूप है।

"मणेरिवाभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसंशयम्।
तात्स्थ्यात् तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥"

"उत्तम मणि की तरह, क्षीणवृत्ति आत्मा में परमात्मा के गुणों के संसर्गारोप से और परमात्मा के अभेद आरोप से निःसंशय समापत्ति होती है।"

'तात्स्थ्य' यानी अन्तरात्मा मे परमात्म-गुणो का समारोप। 'तदञ्जनत्व' यानी अन्तरात्मा मे परमात्मा का अभेदारोप, 'ससर्गारोप' यानी क्या ? यही प्रश्न है न ?

देखिये आरोप दो प्रकार के हैं, ससग और अभेद। सिद्ध आत्मा के अनत गुणो मे अन्तरात्मा मे समर्ग आरोप कहलाता है। परमात्मा के अनतगुणो मे अन्तरात्मा की एकाग्रता होने से समाधि प्राप्त होती है। यह समाधि ही ध्यान का फल है, यह ही अभेद आरोप है।

इन्ह आरोप क्यो कहते हो ?

इसलिए कि यह तात्त्विक अभेद नही है! परमात्मा का आत्म द्रव्य और अन्तरात्मा का आत्म द्रव्य दोनो अलग हैं। इन दोनो के अस्तित्व का एकाकरण नहीं हो सकता है, दो द्रव्य एक नही हो सकते हैं इसलिए आत्मद्रव्य के भाव की दृष्टि से मिलन होता है, लीनता होती है तब अभेद का आरोप कहा जाता है।

अपन अन्तरात्मा बनें, इच्छाओ का क्षय करे और परमात्मा का ध्यान धरें तो अपने मणि के समान पवित्र आत्मा मे परमात्मा का प्रतिबिंब पडेगा ये कैसे क्षण होंगे! आत्मा क्षण दो क्षण मानले कि मैं परमात्मा हूँ! अहम् ब्रह्मास्मि' यह बात इस कक्षा मे कैसी जचेगी!

आपत्तिश्च तत पुण्यतीर्थ कृत्कर्म बन्धत ।
तद्भावाभिमुखत्वेन सपत्तिश्च क्रमाद् भवेत् ॥४॥ २३६

श्लोकार्थ

वे समापत्ति से पुण्य-प्रकृतिरूप तीर्थकर नामकर्म के बन्ध

से फल की प्राप्ति होती है और तीर्थंकर के अभिमुखपन मे अनुक्रम में आत्मिक संपत्तिरूप फल प्राप्त होता है ।

विवेचन

समापित्त, आपत्ति, संपत्ति ।

समापत्ति से आपत्ति और आपत्ति से संपत्ति ।

आपत्ति का अर्थ आफत नही है । आपत्ति का अर्थ दुःख नही है । यह तो आपत्ति का कभी भी नही सुना हुआ अर्थ है । यहां 'आपत्ति' पारिभाषिक अर्थ में लिया गया है ।

'तीर्थंकर–नामकर्म' बांधना ही आपत्ति है । हां, समापत्ति से तीर्थंकर नामकर्म बंधते है और वही आपत्ति है । जो आत्मा यह नामकर्म बांधते हैं वे ही तीर्थंकर बनते हैं और धर्मतीर्थ की स्थापना कर विश्व को धर्मरूपी प्रकाश देते है ।

कर्म आठ प्रकार के हैं; उनमें एक 'नामकर्म' है । इस नामकर्म के १०३ प्रकार है इसमें एक 'तीर्थंकर नामकर्म' है । यह कर्म जो आत्मा बांधती है वह तीसरे भव में तीर्थंकर होता है ।

तीसरे भव में जब से जन्म होता है तब से ही सपत्ति ... । गर्भावस्था मे ही तीन ज्ञान ! स्वाभाविक वैराग्य आदि आत्मिक सपत्ति होती है । भौतिक सपत्ति भी विपुल होती है ... यश, कीर्ति और प्रभाव भी अपूर्व होता है ।

ध्याता–ध्येय और ध्यान की एकतारूप समापत्ति में से सर्जन हुई यह आपत्ति और सपत्ति है ।

इत्थं ध्यानफलाद् युक्तं विंशतिस्थानकाद्यपि ।
कष्टं मात्र त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे ॥५॥ २३७

श्लोकार्थ

इस प्रकार से ध्यान के फल से वीसस्थानक आदि तप भी योग्य है। कष्टमात्ररूप (तप) तो अभव्यों को भी इस ससार में दुर्लभ नही है।

विवेचन

शास्त्रो मे कहा गया है कि 'वीसस्थानक' तप तीर्थंकर नामकर्म बाधते हैं। तीर्थंकर भी अपने अतीत के तीसरे भव मे यह तप करके तीर्थंकर नामकर्म बाधते है।

समापत्ति का फल यदि प्राप्त नही होता है तो मात्र कष्टरूप तप तो अभव्य लोग भी करते हैं। उन्हें कहाँ समापत्ति का फल मिलता है? अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म का बध मात्र कष्ट क्रिया करने से नही होता है। इसके लिए समापत्ति तो चाहिए ही।

'वीसस्थानक' की आराधना तो करनी पडती ही है। इस स्थानको के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) तीर्थंकर (२) सिद्ध (३) प्रवचन (४) गुरु (५) स्थविर (६) बहुश्रुत (७) तपस्वी (८) दर्शन (९) विनय (१०) आवश्यक (११) शील (१२) व्रत (१३) क्षणलव समाधि (१४) तप समाधि (१५) त्याग (द्रव्य से) (१६) त्याग (भाव से) (१७) वैयावच्च (१८) अपूर्वज्ञान-ग्रहण (१९) श्रुतभक्ति (२०) प्रवचन प्रभावना।

प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर (ऋषभदेव और महावीर स्वामी) ने पूर्व भव मे इन बीसो स्थानको की आराधना की थी। बीच के २२ [illegible] ने

तीन इस तरह अनियमित संख्या मे आराधना की थी। परन्तु इन सब आराधनाओं में ध्याता-ध्येय आर ध्यान की एकतारूप समापत्ति तो होती है ही। इसके बिना तीर्थंकर नामकर्म नही बन्ध सकते हैं।

मात्र तप करके संतोष करने वाले जीवों को यहां विचार करने की आवश्यकता है। भले ही एक-एक स्थानक की आराधना मासक्षमरण (महिने का उपवास) करके करते हों और एक-एक पद की माला जपते हो परन्तु जब तक ध्येय में लीनता नहीं आती है तब तक ये तप कष्ट क्रिया मात्र है।

भगवान् महावीर चार-चार महिनों का उपवास, छ-छ महिनों का उपवास……ऐसी घोर तपश्चर्या करने के बावजूद भी रात-दिन ध्यानावस्था में रहते थे। ध्याता ध्येय और ध्यान मैं एकाकार होते थे। धन्ना अरणगार छठ्ठ तप के पारणे से छठ्ठ तप करते थे……परन्तु वैभारगिरि पर जाकर ध्यानस्थ बन कर समापत्ति की साधना करते थे।

बाकी तो जिन जीवो को मोक्ष में नही जाना है वे कभी भी मोक्ष में नही जाने वाले है वे जीव भी बीसस्थानक तप करते हैं……इससे क्या विशेषता? समापत्ति का फल तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन……यह हमको प्राप्त नही होता है। तपश्चर्या का फल अगर प्राप्त नही होता है तो तपश्चर्या का पुरुषार्थ करने से क्या? तपश्चर्या के साथ ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता की साधना होती रहनी चाहिए। इस एकता का लक्ष्य हो तो जीवन में ऐसा समय आता है कि एकता की साधना हो गई होती है। इस दिशा का लक्ष्य ही न हो तो एकता कभी भी प्राप्त न होगी।

वीसस्थानक तप के साथ-साथ उन उन पद का भी ध्यान करना चाहिए। यानी उन पदों में लीनता प्राप्त होनी चाहिए। ये जब प्राप्त होती हैं तब इच्छाओं से मुक्ति हो जाती है। सांसारिक भौतिक पदार्थों की इच्छाओं में मन उछाले मारता हो तब तक ध्येय लीनता प्राप्त होगी ही नहीं। इसलिए 'समापत्ति' अत्यन्त महत्व की आराधना है।

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।
सुखासनस्थस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥६॥२३८

रुद्धबाह्यमनोवृत्ते धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य चिदानन्दसुधालिह ॥७॥ २३९

साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वत ।
ध्यानिनो नोपमा लोके सदेव मनुजेऽपि हि ॥८॥ २४०

श्लोकार्थ

जो जितेन्द्रिय है, धैर्यवान है, अत्यन्त शान्त है, जिनकी आत्मा चंचल नहीं है, सुखासन पर रहे हुए है, जिन्होंने नासिका के अग्रभाग पर नेत्र स्थापित किये हैं, जो योग वाला है, [६]

ध्येय में चित्त की स्थिरता रूप धारणा की धारा से, वेग से जिसने बाह्य इन्द्रियों को अनुसरण करने वाली मन की वृत्ति को रोका है, जो प्रसन्न चित्त वाला है जो प्रमाद रहित है, जो चिदानन्द रूप अमृत का आस्वाद लेने वाला है [७]

अन्दर में ही विकाररहित चक्रवर्तीपन का विस्तार करने वाले ध्यानियों की देव सहित मनुष्यलोक में भी कोई उपमा नहीं है। [८]

विवेचन

ध्याता–ध्यानी महापुरुष को लक्षण–संहिता के ये तीन श्लोक महत्वपूर्ण है। अंतर निरीक्षण करने के इच्छुक ध्याता-पुरुष का यह 'थर्मामीटर' है! आइये, अपन स्वयं अंतर निरीक्षण करे।

१. जितेन्द्रिय : ध्याता पुरुप जितेन्द्रिय होना चाहिए। इन्द्रियों का विजेता हो। किसी भी इन्द्रिय के अधीन न हो। कोई इन्द्रिय इसको दुःख न दे सके। इन्द्रियां इस महात्मा की आज्ञा मे रहे। इन्द्रिय परवशता की दीनता इसको स्पर्श न करे। इन्द्रियो की चचलता से पैदा हुए राग और द्वेष उसे न हो। ऐसा जितेन्द्रिय महात्मा ध्यान की ध्येयता मे लीन होता है।

२ धीर : सत्वशाली महापुरुष ही ध्यान की तीक्ष्ण धार पर चल सकता है। ध्यानावस्था मे दीर्घकाल तक सत्व-शाली महापुरुष ही टिक सकता है। आन्तरबाह्य उपद्रवों के सम्मुख सत्वशील महात्मा ही टिक सकता है। रामचन्द्रजी के सामने सीतेन्द्र ने कैसे उपद्रव किये थे? तो भी सत्वशाली रामचन्द्रजी ध्यानावस्था से बिलकुल ही विचलित नही हुए थे। सत्व था। धीरता थी। इद्रियो को कोई सुन्दर विषय आकर्षित न कर सके उसका नाम है सत्व! कोई भय, उपद्रव या उपसर्ग डरा न सके उसे धीरता कहते है। ध्येय में एकाकार बनने के लिए धीर बनना ही पड़ता है।

३ प्रशान्त—समता का शीतल कुण्ड! ध्याता की आत्मा यानी उपशम का उत्ताल तरगों वाला झरणों का प्रदेश। वहांहमेशा शीतलता होती है। न क्रोध, न मान, न माया और

न लोभ। भले ही इन दुष्ट कषायो के धधकते अगारे इन पर फेंक दिये जावें परन्तु उपशम के कुण्ड मे पडते ही ये अगारे बुझ जाते है। दृढप्रहारी महात्मा नगर के दरवाजे पर खडे होकर ध्याताध्यान और ध्येय की एकता की साधना कर रहे थे उस समय नगरवासियो ने उन पर क्रोध के अगारे नही बरसाये थे क्या ? परन्तु इन महात्मा को अगारे जला न सके। क्यो ? उपशम के कुण्ड मे ये अगारे बुझ गये थे। आप ध्यानी पुरुषों का इतिहास देखिये वहा उपशमरस की महिमा देखने को मिलेगी। हा ! केवल ध्यान के समय प्रशान्त रहना और दूसरे समय मे कषायो पर अकुश नही रखना ऐसा न हो। जीवन के प्रत्येक क्षण उपशमरस की गागर हो। दिन हो या रात्रि, नगर हो या जगल, रोगी हो या निरोगी, कोई भी काल या क्षेत्र हो—ध्यानी पुरुष शान्तरस का सागर होता है।

४ स्थिर ध्येय के उपासक मे चचलता न हो। जिस ध्येय के साथ ध्यान द्वारा एकत्व प्राप्त करना है, वह ध्येय क्या है ? अनतकाल की स्थिरता। वहा कोई भी मन वचन काया के प्रतीक नही है वहा कोई अस्थिरता नही तो फिर ये ध्याता चचल कैसे बन सकते हैं ? अस्थिरता चचलता ये ध्यान मे बाधक तत्व हैं। ध्यान मे ऐसी सहज स्थिरता हो कि ध्यान मे विक्षेप न पडे।

५ सुखासनो ध्यानी पुरुष सुखासन पर बैठे। ध्यानावस्था मे उसका आसन (बैठने की पद्धति) ऐसी हो कि बार-बार ऊँचा-नीचा नही होना पडे। एक आसन पर दीर्घ समय तक बैठ सके।

६ नासाग्रन्यस्त दृष्टि ध्यानी पुरुष की दृष्टि इधर-उधर नही जानी चाहिए। नासिका के अग्रभाग मे उसकी दृष्टि

स्थिर होनी चाहिए। काया की स्थिरता के साथ दृष्टि की भी स्थिरता होनी चाहिए, यह न हो तो ससार के दूसरे तत्व मन में वस जाते है और ध्येय का ध्यान चुका देते है। द्रौपदी का पूर्व-भव यहां साक्षी स्वरूप है। यह साध्वी जव नगर के बाहर ध्यान करने के लिए गई थी तब एक वेश्या का घर सामने था वहाँ पाच पुरुषो के साथ वेश्या को क्रीडा चल रही थी। उस साध्वी की दृष्टि उधर गई, एकटक होकर देखने लगी और ध्येय का ध्यान भूल गई। ध्येय परमात्मा से यह दृश्य सुखकारी लगा और यह दृश्य उसका ध्येय वन गया। वह द्रौपदी के भव में पांच पांडवो की पत्नी वनी। परमात्मा के साथ एकता साधने के लिए दृष्टि का सयम अनिवार्य है। दृष्टि का संयम नही रखने वाले साधक परमात्मस्वरूप की साधना नही कर सकते है। इसलिए दृष्टि नाक के अग्र भाग मे स्थिर करनी चाहिए।

७. **मनोवृत्ति निरोधक :** इन्द्रियां मन के विचारो का अनुसरण करती है। ध्येय मे चित स्थिर करने वाला साधक मनोवृत्तियो को रोकता है…… ……तीव्रवेग से दौडते विचारो के प्रवाह कावु में करता है। जव ध्येय मे मन लीन हो जाता है तव इन्द्रियो के विपयो में दौडता हुआ मन वंध जाता है। मन का सम्वन्ध जव परमात्मा के साथ वन्ध जाता है तव इन्द्रियो के साथ का सम्वन्ध कट जाता है। इन्द्रियो के साथ मन का सम्वन्ध कट जाने के वाद "मैं परमात्मा का ध्यान धरू" ऐसी राह देखने की आवश्यकता नही है। आप अपने परमात्म स्वरूप में मन जोड दो तव इन्द्रियो के साथ सम्वन्ध कटा हुआ ही समझे।

८. **प्रसन्न :** ध्यानी को कितनी महान प्रसन्नता होती है। परमात्म स्वरूप मे लीन होने का आदर्श, ध्येय धरने वाले

ध्यानी महात्मा जब अपने ध्येय तक पहुचते हैं, आदर्श की सिद्धि प्राप्त करते हैं, तब इनकी प्रसन्नता का क्या पूछना ? इनका रोम-रोम आनन्दित हो जाता है। इनका हृदय अद्वितीय आनद का अनुभव करता है और इनका मुखमडल सौम्यता एव प्रसन्नता से दीप्त हो जाता है। न उन्हे विषयो की स्पृहा होती है और न कषायो का सताप होता है। यह नही होने से प्रसन्नता ही होती है। "भिक्षुरेक सुखी लोके" यह कसा गूढ सत्य है। ध्यानी ऐसा भिक्षुमुनि ही ऐसी प्रसन्नता का सुख अनुभव कर सकते है।

६ अप्रमत्त प्रमाद ? आलस्य ? व्यसन ? इन विषधरो को सैकडो माइल पीछे रखकर जो परमात्मस्वरूप के निकट पहुचा है उसे ये विषधर चिपक नही सकते है। इसके अग-अग मे स्फूर्ति होती है, इनके मन मे अपूव उत्साह की लहरें होती हैं। यह बैठा हो या खडा हो वह भव्य विभूति को देखता है यह मूर्तिमत चैतन्य लगता है। मानो परमात्मा की ही प्रतिकृति हो ऐसा अहसास होता है। वैभारगिरि पर खडे धन्ना अणगार के दर्शन मगध सम्राट श्रेणिक ने किये थे तब सम्राट को धन्ना अणगार ऐसी ही विभूति लगे थे उसने नमस्कार किया गीत गाये अप्रमत्त महात्मा के दशन से उसका हृदय परम हप से सरोवार हो गया था। अप्रमाद का प्रताप मगध सम्राट के भव के दुख को दूर करने वाला बना। ध्यानी के सामने मान का पानी उतर जाता है। ध्यानी की मौन वाणी प्राणियो के प्राणो को नवपल्लवित करती है।

१० चिदानन्द अमृत-अनुभवी इस ध्यानी महापुरुष को ज्ञानानन्द का रसास्वादन करने मे प्रेम होता है। इसके

अलावा संसार में उसे कोई भी आकर्षण नही है , सव नीरस है। ज्ञानानन्द का अमृत ही रुचिकर लगता है। आत्मज्ञान का आस्वाद करते हुए यह कभी भी नहीं थकता है।

अहो ! ऐसा ध्यानी महात्मा अंतरंग साम्राज्य का विस्तार करते हुए कैसा आत्मतत्व वनाता है। इसके साम्राज्य का यही स्वामी है। कोई दूसरा इस साम्राज्य से ईर्ष्या नहीं कर सकता है। कोई विपक्ष........ ...या शत्रु इस साम्राज्य का नही है।

ऐसे ध्यानीपुरुष को किसकी उपमा दे ? स्वर्ग या मनुष्य लोक में ऐसी कोई उपमा नही है ! ऐसी अनुपम उपमा तीन लोक में नही है।

अद्वितीय !

अनुपमेय !

ध्याता–ध्येय और ध्यान की एकता साधन करने वाला ध्याता.... ....चर्म चक्षु से पहचाना नही जाता। ऐसे ध्याता पुरुष ही अंतरंग, अनन्त आनन्द को अनुभव करते है। ऐसी श्रेणी प्राप्त करने के लिए उपरिलिखित दस विशेषताओं का अभ्यास करना आवश्यक है। ध्याता वनने के लिए यह आचार सहिता है। ऐसा ही ध्याता ध्येय को प्राप्त करने के योग्य वन सकता है।

हे आतम ! तू ऐसा ध्याता वन जा। इस पार्थिव संसार से अलिप्त वन जा। ध्येय परमात्म स्वरूप का पुजारी वन जा। इसी का स्नेही और प्रेमी वन जा। इस जीवन को तू इसमें लगादे। ध्येय में ध्यान से निमग्न वन जा। इस अपूर्व आनन्द का अनुभव कर ले।

ॐ ह्री अर्हं नम

३१. तप

वासनाओ पर क्रोधित योगी शरीर पर भी क्रुद्ध होता हे और तप से शरीर पर टूट पडता हे ।

भला, तप से शरीर पर क्यो टूट पडता है ? शरीर तो साधना का साधन है, वासनायें शैतान हैं, शरीर नही । इस लिए तप का निशान वासनायें होनी चाहिए, शरीर नहीं । इस प्रकरण मे ग्रन्थकार अपन को यह विवेक दृष्टि देते हैं। इन्द्रियो को नुक्सान हो ऐसा तप करने को मना करते है ।

बाह्यतप की उपयोगिता आभ्यतर तप की प्रगति मे वर्णन करते हैं । आभ्यतर तप आत्म विशुद्धि का साधन बताते हैं ।

हे तपस्वियो और तप के इच्छुको ! यह अष्टक आपको मननपूर्वक पढना पडेगा ।

ज्ञा नमेव वुधाः प्राहु. कर्मणां तापनात् तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्ट वाह्यं तदुपवृंहकम् ॥१॥ २४१

श्लोकार्थ

कर्मों को तपाने वाला होने से तप वह ज्ञान ही है, यह पडितो का कथन है। वह अतरंग तप ही इष्ट है और इसको वढ़ाने वाला वाह्यतप भी इष्ट है।

विवेचन

'तप' शब्द से कौन भारतीय अपरिचित है ? तप करने वाला तो परिचित है ही पर तप नही करने वाला भी 'तप' से परिचित होता है। परन्तु समाज मे 'तप' शब्द विशेपकर वाह्यतप तरीके प्रसिद्ध हुआ है। तप क्यो करना है, ? कैसा करना है और कव करना चाहिए ? यह सव सोचना करीव-करीव लुप्त सा हो गया है।

ससार में सुखी जीव दिखते हैं और दुःखी जीव भी दिखते है। सुखी थोडे और दुखी ज्यादा है। सुखी सदा के लिए सुखी नही हैं और दु.खी भी हमेशा के लिए दुःखी नहीं हैं, यह ऐसा क्यों ? क्या यह आत्मा का स्वभाव है ? नही आत्मा का स्वभाव तो अनत सुख है, शाश्वत सुख है, परन्तु इसके ऊपर कर्म लगे हुए है, इसलिए जो जीव का वाह्य स्वरूप दिखता है वह कर्म जन्य स्वरूप है। यह निर्णय केवल ज्ञानी वीतराग ऐसे परमात्माओ ने किया था और ससार को यह निर्णय समझाया था।

परम सुख एव परम शान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्मों के वन्धन से मुक्त करना ही पडेगा। ये कर्मवन्धन

तोडने का अपूर्व साधन तप है। कर्मों के क्षय के लिए तपश्चर्या करनी है। इसलिए तप की व्याख्या इस तरह विद्वानो ने की है। कमणा तापनात् तप । कर्मो को तपावे वह तप। तपावे का अथ है नाश करे, क्षय करे।

इसलिए तपस्वी का लक्ष्य कर्मक्षय ही होना चाहिए, यह तात्पय है। परन्तु तप किसको कहना ? तप मुख्यकर दो प्रकार के हैं। (१) बाह्य (२) आभ्यतर।

कर्मों को क्षय करने वाला तप आभ्यतर अतरग ही है। 'प्रशमरति' मे भगवान् उमास्वाति कहते हैं

'प्रायश्चितध्याने वैयावृत्यविनयावथोत्सर्ग ।
स्वाध्याय इति तप षट् प्रकारमाभ्यतर भवति ॥

प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्त्य, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय ये छ प्रकार के आभ्यतर तप हैं। इन छ तपो मे भी 'स्वाध्याय' को श्रेष्ठ बताते हुए आगम मे कहा है—

"सज्झायसमो तवो नत्थि"

स्वाध्याय समान दूसरा कोई तप नही है। वह श्रेष्ठता कमक्षय की अपेक्षा से है। स्वाध्याय से विपुल कर्मक्षय होते हैं, जो दूसरे तपो से नही होता है।

तो क्या बाह्यतप का महत्व नही है ?

है। आभ्यतर तप मे प्रगति लाना चाहते हैं तो बाह्यतप चाहिये ही। उपवास करने से स्वाध्याय मे प्रगति होती है तो उपवास करना ही चाहिए। कम खाने से स्वाध्याय आदि मे स्फूर्ति आती हो तो कम ही खाना चाहिए। कम चीजें खाने से,

स्वाद का त्याग करने से काया को कष्ट देने से, एक जगह स्थिर बैठने से आभ्यतर तप में तीव्रता आती हो, सहायता मिलती हो तो यह बाह्यतप करना ही चाहिए। बाह्यतप आभ्यंतर तप की सहायता के लिए है।

मानव ! तू ही यह आभ्यतर तप करके कर्मो का क्षय करने में समर्थ है; शक्तिमान है। कर्मो का क्षयकर आत्मा का स्वरूप प्रगट करने के लिए तू तत्पर बन। जब तक कर्मो का क्षय कर आत्म स्वरूप नहीं प्रगटायेगा तब तक तेरे दुःखों का अत नही आयेगा। कर्मों का अंत हो तो ही दुःखों का अंत होता है।

आनुश्रोतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता।
प्रतिश्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तप ॥२॥ २४२

श्लोकार्थ

अज्ञानी की, लोक-प्रवाह को अनुसरण करने की वृत्ति सुख शील है. ज्ञानी पुरुषों की विरुद्ध प्रवाह में चलने वाली वृत्ति. उत्कृष्ट तप है।

विवेचन

संसार का तीव्र प्रवाह है।

प्रवाह का तूफान है।

इस तूफान में बहने वालो का इतिहास अत्यन्त रोमांच-कारी है। चक्रवर्ती, वासुदेव, राजा-महाराजा, श्रीमंत, धीमंत आदि इस तूफान में बह गये। यह तूफान सतत् प्रवाह से बहता है। यह एक तरह का नही है परन्तु अनेक तरह का है।

"खाना, पीना और आनद से रहना।"

"यह तो सब खा सकते है अपन ससारी है। सब चलता है।"

"मन शुद्ध रक्खो, तप करने से क्या ?"

ऐसे अनेक लोक प्रवाह हैं। ऐसे प्रवाहो मे बहकर तप की उपेक्षा करने वाले अज्ञानी जीव तपश्चर्या नही करते है। सुखशीलता, जीव को इस प्रवाह मे बहा देता है। जिस प्रवृत्ति में कोई कष्ट न हो, कोई मेहनत न करनी पड़े वह प्रवृत्ति ही वह करेगा।

परन्तु जो विचारक है, विद्वान है वह पुरुष इस लोक प्रवाह के विरुद्ध पूरी तरह से जायेगा। उसने सुखशीलता को भगा दिया है। कष्ट व आपत्ति को हसते हसते सहने की उसकी तैयारी होती है। वह धर्मबुद्धि से प्रेरित होकर उत्कृष्ट कोटि की तपश्चर्या करता है। वह विचार करता है-"चारित्र लेकर तीर्थकर भी घोर तप करते हैं, जो जानते हैं कि उन्हे केवल ज्ञान होगा ही तो भी वे तप करते हैं। तो फिर हे जीव ! तुझे तो तप करना ही चाहिए।"

यहां मूलश्लोक में 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ 'विचार' होता है। अर्थात् अज्ञानी जीवो की ससार प्रवाह का अनुसरण करने की वृत्ति (विचार) सुखशीलता है। परन्तु टब्बा में स्वय ग्रथकार ने 'वृत्ति' का अर्थ 'प्रवृत्ति' किया है। और मासक्षमण (महिना का उपवास) जैसी उग्र तपश्चर्या को प्रवृत्ति बताई है। यानी तपश्चर्या को मात्र विचार रूप नहीं परन्तु आचार रूप बताकर बाह्यतप पर जोर दिया है।

'वाह्य तदुपवृंहकम्' वाह्यतप तो अंतरंग तप में सहायक है। ऐसा कहकर यह भास होता है कि कर्मक्षय करने के लिए अंतरंग तप ही करना चाहिए। वाह्य तप करो तो करो!" परन्तु उसी समय दूसरे श्लोक में अपने कथन का राज खोल दिया है। लोक प्रवाह में........लोक संज्ञा में वहकर तू तप की उपेक्षा करता है तो यह तेरी सुख शीलता है और तू अज्ञानी है।

आभ्यंतर तप में सुदृढ रहने के लिए वाह्य तप की आवश्यकता है। इसलिए ग्रंथकार ने टव्वा में तद्भवमोक्षगामी तीर्थंकरों का दृष्टान्त देकर कहा है कि वे भी वाह्यतप का आचरण करते हैं। तो फिर अपन को कौन से भव में मोक्ष प्राप्त होगा ऐसा कोई चिन्ह नहीं दिखता फिर तप किये विना कैसे चलेगा।

करो, जितना हो सके उतना वाह्य तप करो.............. शरीर का ममत्व तोड़कर तप करो। घोरवीर और उग्र तप करके आत्मा की शक्ति का इस संसार को परिचय कराओ। लोक प्रवाह के विरुद्ध सागर में घुसते जाओ। धीर और वीर वन कर घुसते चलो। कर्मक्षय का आदर्श रख कर, तप की आराधना करते जाओ। आराधना में वाधक विचारों पर अकुश रखने की कला प्राप्त करो।

धनार्थिनां यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम्।
तथा भवविरक्तानां तत्व ज्ञानार्थिनामपि ॥३॥ २४३

श्लोकार्थ

जैसे धन के इच्छुक को शीत–गर्मी आदि कष्ट दुस्सह नहीं हैं उसी तरह संसार से विरक्त हुए तत्वज्ञान के इच्छुक को

भी शीत-गर्मी आदि कष्ट सहन करने के लिए तप दु सहनीय नही है।

विवेचन

धन-सपत्ति की तीव्र इच्छा वाले को कडकडाती सर्दी या भुलसती गर्मी मे भटकता हुआ देखा है ? आप इन्हे पूछें

तू ऐसी कडकडाती सर्दी मे क्यो भटकता है ? तू शरीर को गलाने वाली ऐसी ठड सहन कर सकता है ? तू तवे के समान गर्म गर्मी को भी सहन कर सकता है ?"

वह आप को कहेगा "कष्ट सहन किये विना घन-सपत्ति नही मिलेगी भैया। और धन का ढेर चाहिए तब यह सब कष्ट भूल जाना है।"

भोजन का ठिकाना नही, कपडो की तरफ ध्यान नहीं और ऐशो-आराम का नाम निशान नही। धन के पीछे भटकते वाले को कष्ट कष्टस्वरूप नही लगता है। दु ख दु खरूप नहीं लगता है।

तो फिर परम तत्व प्राप्त करने की जिनकी लालसा जागृत हुई है उन्हे परम तत्व विना समस्त ससार तुच्छ लगता है ऐसे भवविरक्त ससार-सुखो मे विरक्त महात्मा को ठड-गर्मी कष्टरूप लगेंगे ?

परमतत्व प्राप्त करने के लिए, भव सुखो से विरक्त हो कर राजगृही के पहाडो में जाकर नम अग्नि के समान पत्थर की शिला पर नगे शरीर से सोने वाले धन्नाजी और शालिभद्र को ये कष्ट कष्टस्वरूप नही लगे। न असाध्य लगे। उनके दिल में ये सब सहना स्वाभाविक लगता था।

जो मनुष्य भव से विरक्त नहीं, संसार सुखों से विरक्त नहीं और परम तत्व-आत्मस्वरूप प्राप्त करने की जिसको इच्छा जागृत नही हुई है, ऐसे मनुष्य को यह वात समझ मे नही आवेगी। भव के······ ··संसार के मुखों में जिनका रुझान है, भौतिक सुखों का जिन्हें त्याग नहीं करना है और परमतत्व की वाते सुन कर, उसको प्राप्त करने के लिए जो चाहते हैं वे मनुष्य ऐसा मार्ग खोज करते हैं कि कष्ट सहे बिना ही परमतत्व की प्राप्ति हो जावे।

भव विरक्ति के बिना परमतत्व की प्राप्ति नही होती है। भव विरक्ति विना और परमतत्व की तीव्र लालसा के विना उपसर्ग········परिषह सहन नही हो सकते हैं········आप इतिहास देखे। जिन महात्माओं ने घोरउपसर्ग··········परिषह सहन किये थे वे भवविरक्त थे और परमतत्व के इच्छुक थे। गजसुकुमाल मुनि, खंधकमुनि आदि मुनिवर और चन्द्रावतंसक आदि राजाओ पर आप विचार करें तो उपसर्ग·········· परिषह इनके मन में कोई उपद्रव नही लगे थे।

ध्येय का निर्णय हो जाना चाहिए। धन की तरह परम तत्व की कामना जग जानी चाहिए। जैसे धनार्थी को धन के सिवाय दूसरा कोई प्रिय नही होता है उसी तरह परमतत्व के सिवाय दूसरा कोई प्रिय नही होना चाहिए। इस परमतत्व की प्राप्ति करने के लिए वीरता पूर्वक तप करे। महिने···· ····महिने का उपवास भी इनके मन को सरल लगता है। घंटों तक ध्यान करना इन्हें कष्टप्रद नही लगता है।

संसार में सब से प्यारा तत्व जैसे पैसा है वैसे ही विवेकी पुरुषो को सब से प्यारा तत्व परमात्म तत्व होता है। इस तत्व

इन तपस्वियों को आनन्द से भर देती है। इस शिव-रमणी को वरण करने के लिए तपस्वियो ने एक सुन्दर रास्ता पकड़ा है।

तपश्चर्या का !

देह दमन का !

वृत्तियों के शमन का !

तपस्वियो के पास ज्ञानदृष्टि होती है। वे इस उपाय से उनके साध्य की निकटता देखते हैं, जैसे-जैसे साध्य निकट देखते है वैसे-वैसे उनमें मिठास आती है और वे आनंद का अनुभव करते हैं..........क्रमशः आनन्द बढता ही जाता है।

"वैराग्यरति" ग्रथ में कहा है:—

"रतिः समाधावरतिः क्रियानु
नात्यन्ततीव्रास्वपि योगिनां स्यात्।
अनाकुला वह्नि कणाशनेऽपि
न कि सुधापाने गुणाच्चकोराः: ॥"

योगी पुरुषो को समाधि में रति-प्रीति होने से अत्यन्त तीव्र किया में भी अरति-अप्रीति नही होती है। चकोर पक्षी सुधा पीने के गुण वाले होने से अग्नि के कण खाने से क्या व्याकुलता रहित नही होते है?

मिठास के विना आनंद नहीं और आनंद के विना कठोर धर्म उपासना दीर्घकाल तक नही टिकती है। मिठास एवं आनंद कठोर और तीव्र धर्म आराधना मे गति कराते है, प्रगति कराते हैं।

तपस्वी ज्ञानी होना चाहिए, यह महत्वपूर्ण बात यहां कही गई है। अगर तपस्वी ज्ञानी नही होगा तो उसे धर्मक्रिया

मे अप्रीति होगी अरति होगी। भले ही वह धर्मक्रिया करता होगा परन्तु वह मिठास अनुभव नही कर सकता है, आनद का अनुभव नही कर सकता है।

ज्ञान उसे साध्य मोक्षदशा के सुख की कल्पना देता है। जो कल्पना उसे मिठास देती है वह कल्पना उसे आनद से भर देती है। यह आनद उसकी कठोर तपश्चर्या को जीवन देता है। ज्ञान युक्त तपस्वी की इस जीवनदशा का यहा कैसा अपूर्व दर्शन कराया है। अपन को ऐसे तपस्वी बनने का आदर्श रखना चाहिए उसके लिए साध्य की कल्पना स्पष्ट करनी चाहिए कल्पना इतनी स्पष्ट हो कि उसमे से मधुरता—मिठास टपके। इसके लिए तपश्चर्या का सुदर उपाय करना चाहिए।

बस, आनद की वृद्धि होती ही रहेगी, इस बढते आनद मे नित्य क्रीडा करते रहिए।

इत्थं च दुःख रूपत्वात् तपो व्यर्थ मितीच्छताम्।
बौद्धाना निहता बुद्धिर्बौद्धानन्दापरिक्षयात् ॥५॥२४५

'—इस प्रकार दुःख रूप होने से तप निष्फल है। ऐसी इच्छा करने वाले बौद्धो की बुद्धि कुंठित हुई है कारण कि बुद्धि जनित अतरग आनद की धारायें खडित नही होती हैं। अर्थात् तप मे आत्मिक आनद की धारा अखडित होती है।

विवेचन

'—कर्मक्षय के लिए, दुष्ट वासनाओ के निरोध के ...
... चाहिए," इस सिद्धान्त पर ...
... किया है। जो कि ...

परमात्मा को ही नही मानता है इसलिए ये तप के सिद्धान्त को न माने तो समझ में आने लायक है। परन्तु आत्मा को और निर्वाण को मानने वाला बौद्धदर्शन तप की अवहेलना करे तब जनता में संशय पैदा होता है और तप में अश्रद्धा हो जाती है।

जनता का...............जीव मात्र का हित चाहने वाले महात्माओं को इससे खेद होता है यह स्वाभाविक है। बौद्धो का तप विषयक प्रलाप कैसा है। वे कहते हैं:—

'दुःखात्मकं तपा केचिन्मन्यते तन्न युक्ति मत्।
कर्मोदयस्वरूपत्वात् बलीवर्दादि दुःखवत्॥

कितने ही (जैन आदि) बैल आदि पशु के दुःख की तरह अशाता वेदनीय के उदय रूप होने से तप को दुःख रूप मानते है। यह युक्ति युक्त नही है। बौद्ध कहते है: तप क्यों करना चाहिए? पशुओं की तरह दुःख सहन करने से क्या? यह तो अशाता वेदनीय कर्म का उदय है। हरिभद्रसूरिजी उन्हें कहते है:

"विशिष्ट ज्ञान—सवेग शमसारयतस्तपः।
क्षायोपशमिकंज्ञे यमव्यावाधसुखात्मकम्॥

'विशिष्ट ज्ञान—संवेग—उपशमगर्भिततप क्षायोपशमिक और अव्यावाध सुख रूप है।' अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से हुई परिणतिरूप है। अशाता वेदनीय का उदय रूप नही है।

यशो विजयजी उपाध्याय कहते हैं कि तपश्चर्या मे अंतरंग आनंद की धारा अखंडित रहती है, उसका नाश नही होता है इसलिए तपश्चर्या मात्र कष्ट रूप नही है। पशु के दुःख के साथ

मनुष्य के तप की क्या बराबरी है ? पशु के हृदय मे क्या अतरग आनद की धारा बहती है ? पशु क्या स्वेच्छा से कष्ट सहन करता है ?

तपश्चर्या की आराधना में तो स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, किसी का बन्धन नहीं है, भय या परतनता नही है। स्वेच्छा से कष्ट सहन करने मे अतरग आनद हिल्लोरें लेता है। इस अतरग आनद के प्रवाह को नही देख सकने वाले बौद्धो ने तप को मात्र दु ख रूप ही देखा है। तपश्चर्या करने का मात्र बाह्य स्वरूप ही देखा है इनका कृश देह देखकर उसे लगा कि आहा यह बिचारा कितना दु खी है ? न खाना और न पीना शरीर कैसा सूख गया है। तपश्चर्या की शरीर पर होती असरो को देख कर तप के प्रति घृणा करना क्या यह आत्मवादी के लिए योग्य है ?

तप करने वाला घोर तप को भी वीरता पूर्वक आराधना करने वाले महा पुरुषो के आतरिक आनद को नापने के लिए इन महापुरुषो का निकट परिचय चाहिए। चम्पा श्राविका के छ महिनो के उपवास ने अकबर सरीखे क्रूर हिंसक बादशाह को भी अहिंसक बनाया था कैसे ? अकबर ने इस चम्पा श्राविका का निकट परिचय किया चपा के आतरिक आनद को देखा तपश्चर्या को कष्ट रूप नही परन्तु आनद रूप समझने की चम्पा की महानता देखी तब अकबर तपश्चर्या के चरण मे झुक गया था। तपस्वी को आतरिक आनद का कुआ पाताल कुआ खोद देना चाहिए।

यत्र ब्रह्म जिनार्चा च कषायाणा तथा हृति ।
सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तप शुद्धि मिष्यते ॥६॥२४६

श्लोकार्थ

जब ब्रह्मचर्य होता है, जिन की पूजा होती है तथा कषायों का क्षय होता है और अनुबंध सहित जिन की आज्ञा प्रवर्ते, वह तप शुद्ध इच्छा वाला है।

विवेचन

देखो, ऐसे ही बिना विचारे तप करने से काम चलेगा। इनका परिणाम देखो...... हा, यह परिणाम इस जीवन मे ही चाहिए। मात्र परलोक के सुख को कल्पना में रखकर तप करने से नही चलेगा। आप देखे, जैसे जैसे आप तप करते हैं वैसे वैसे वे चार परिणाम आते हुए दिखते है ?

(१) ब्रह्मचर्य में वृद्धि होती है ?
(२) जिन पूजा में प्रगति होती है ?
(३) कषाय घटते जाते हैं ?
(४) सानुबंध जिनाज्ञा का पालन होता है ?

तपश्चर्या की आराधना का आरंभ करते समय ये चार आदर्श नेत्र के सम्मुख रखने है। तपश्चर्या जैसे-जैसे करते हैं उस समय इन चार बातों की प्रगति होती है या नहीं, यह देखते रहना चाहिए। इसी जीवन में इन चार बातों की विशिष्ट प्रगति होनी चाहिए। तपश्चर्या का तेज यहीं है। तपश्चर्या का प्रभाव यहीं है।

ज्ञान मूलक तपश्चर्या ब्रह्मचर्य के पालन में दृढता लाती है। अब्रह्म की... ....मैथुन की वासना मंद पडती जाती है, मैथुन के विचार भी नही आते है। मन वचन काया से ब्रह्मचर्य का

पालन होता है। तपस्वी को ब्रह्मचर्य का पालन सरल हो जाता है। तपस्वी के लिए मैथुन का त्याग सरल हो जाता है। तपस्वी का लक्ष्य ही होता है कि "मुझे ब्रह्मचर्य के पालन में निर्मलता, पवित्रता और दृढ़ता लानी है।"

जिन पूजा में तपस्वी प्रगति करता जाता है। जिनेश्वर के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा, भक्ति बढ़ती जाती है। शरणागति की इच्छा बढ़ती जाती है। जिनेश्वर की भाव पूजा और द्रव्य पूजा में हृदय का उल्लास बढ़ता जाता है।

कषायों का क्षयोपशम होता जाये। क्रोध, मान, माया और लोभ कम होते जाते हैं। कषायों का उदय में नहीं आने दे। उदय में आये हुए कषायों को सफल नहीं होने देवे। 'तपस्वी में कषाय शोभा नहीं देता है' यह उसका मुद्रा लेख है। तपस्वी कषायी नहीं शोभा देता है। कषाय करने वाला तपस्वी तप की निन्दा कराता है, तप का मूल्य कम कराता है। तपश्चर्या का ध्येय कषायों का क्षयोपशम होना चाहिए।

साधुवत् जिनाज्ञा का पालन! कोई भी प्रवृत्ति करते हुए "हमारे लिए जिनाज्ञा क्या कहती है? जिनाज्ञा का भंग तो नहीं होता है?" यह जागृति होनी चाहिए।

"आणा गहा विराहा च निवाय न भवाय य"

आज्ञा की आराधना कल्याण के लिए होती है। जिनाज्ञा की आराधना के लिए वह तपस्वी हमेशा जागृत रहता है। तपश्चर्या के [illegible] पार [illegible] उपयोग में [illegible] और [illegible] की [illegible] है? [illegible] [illegible] के लिए [illegible] को कष्ट दे। [illegible] नहीं है। [illegible]

"किसी भव में तो मोक्ष मिलेगा ही·····" ऐसे अधूरे अन्तिम लक्ष्य से भी किया हुआ तप आत्मा का उद्धार नही कर सकता है। इसके लिए तो ये चार बाते ही चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन, जिनेश्वर का पूजन, कषायो का क्षय और जिनाज्ञा का पारतन्त्र्य। ऐसा पारतंत्र्य हो कि भवोंभव जिनचरण की शरण मिले। भव भ्रमण टल जावे।

तदेव ही तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥७॥ २४७

श्लोकार्थ

जहां बिलकुल दुर्ध्यान न हो, जिससे मन-वचन-काया के योगों की हानि न हो और इन्द्रियां क्षय न हों (कार्य करने के लिए अशक्त न हों) वही तप करने योग्य है।

विवेचन

"कुछ भी हो परन्तु यह तप तो करना ही है।" ऐसी दृढ़ता किसे हर्षित नही करती है? ऐसी दृढ़ता बताने वाले को लाखों अभिनन्दन मिलते है।

तपस्वी में दृढ़ता आवश्यक है। लिए हुए तप को पूर्ण करने की दृढ़ता होनी ही चाहिए। परन्तु मात्र तप को पूर्ण करने की दृढ़ता से वीरता नहीं प्राप्त होती है। इसके लिए निम्नलिखित सतर्कता आवश्यक है।

(१) दुर्ध्यान न होना चाहिए।

(२) मनोयोग-वचन योग—काया योग इनकी हानि नही होनी चाहिए अथवा मुनि जीवन में कर्तव्य रूप योगों की हानि नही होनी चाहिए।

(३) इन्द्रियो का नुकसान नही होना चाहिए।

दुर्ध्यान अनेक प्रकार के होते है। कभी तो दुर्ध्यान करने वाले को ख्याल भी नही होता है कि यह दुर्ध्यान कर रहा है। दुर्ध्यान यानी खराब विचार, न करने योग्य विचार। तपस्वी से कौन से विचार न किये जाये, यह क्या कहने का होता है? देखिये इनके कुछ नमूने। "मैंने यह तप नही किया होता तो अच्छा होता मेरी तपश्चर्या की कोई इज्जत नही करता है कब पारणा करूंगा?

तपश्चर्या करते हुए शरीर कमजोर हो जाता है तब कोई सेवा भक्ति न करे तो दुर्ध्यान हो जाता है। यह न होना चाहिए। आर्तध्यान से बचना चाहिए।

योगो की हानि नही होनी चाहिए। मन की दुर्ध्यान मे, वचन को कषाय से और काया की प्रमाद से हानि होती है।

साधु जीवन के योग प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, गुरु सेवा, ग्लान सेवा, शासन प्रभावना इत्यादि योगो में शिथिलता नही आनी चाहिए। ऐसा तप नही करना चाहिए कि इन योगो की आराधना मे खलल पहुँचे। सुबह के प्रतिक्रमण मे साधु को जो तप चिंतन का काउस्सग्ग करना होता है उसमे यह विचार करना पडता है कि "आज मेरे विशिष्ट कर्तव्यो मे यह तप बाधक तो नही बनेगा न? "मुझे आज उपवास है अट्ठम है इसलिए मेरे से स्वाध्याय नही होगा, मेरे से बीमार की सेवा नही होगी मैं पडिलेहण नही करू ऐसा तप नही करना चाहिए।

इन्द्रियो की शक्ति क्षीण नही होनी चाहिए। जिन इन्द्रियो से संयम की आराधना की जाती है वे इन्द्रिया क्षीण हो जायें

तो सयम की आराधना भी क्षीण हो जायेगी। नेत्र ज्योति चली जावे तो? कान बहरे हो जाये तो? शरीर को लकवा मार जाये तो? साधु जीवन तो स्वावलम्बी जीवन है। अपने काम स्वय करने पडते है। पाद विहार करना और गौचरी से जीवन निर्वाह करना होता है। अगर इन्द्रियो को क्षति पहुंचे तो साधु के आचार को भी क्षति पहुँचती है।

कर्तव्य और इन्द्रियो की सुरक्षा का लक्ष्य तपस्वी को नही चूकना चाहिए। मन को दुर्ध्यान से बचाना चाहिए। यह सावधानी खास कर बाह्य तप की आराधना करने वाले के लिए है। अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश और सलीनता ये छः प्रकार के बाह्य तप करने वाले को ऊपर की तीन सावधानी रखनी आवश्यक है।

सावधानी के नाम पर प्रमाद का पोषण न हो इसकी भी सावधानी रखनी चाहिए।

मूलोत्तरगुण श्रेणि-प्राज्य साम्राज्य सिद्धये।
बाह्यमाभ्यन्तर चेत्थ तपः कुर्यान्महामुनिः ॥८॥ २४८

श्लोकार्थ

मूल गुण और उत्तर गुण की श्रेणी-रूप विशाल साम्राज्य की सिद्धि के लिए महामुनि बाह्य और अंतरग तप करते है।

विवेचन

मुनीश्वर को साम्राज्य चाहिए।

राजेश्वर के साम्राज्य से विलक्षण विशाल और व्यापक। यह साम्राज्य मूल गुणो का एव उत्तर गुणो का है।

मूल गुण है सम्यग् ज्ञान, दशन और चारित्र। मूल गुण है पाच महाव्रत। प्राणातिपात विरमण महाव्रत, मृषावाद विरमण महाव्रत अदत्तादान विरमण महाव्रत मैथुन विरमण महाव्रत और परिग्रह विरमण महाव्रत।

उत्तर गुण हैं पाच समिति और तीन गुप्ति। दस प्रकार का श्रमण धर्म और बारह प्रकार का तप, संक्षेप में कहे तो चरण सित्तरि और करण सित्तरि—यह मुनीश्वर का साम्राज्य है। इस साम्राज्य की सिद्धि के लिए मुनीश्वर तपश्चर्या करते है। बाह्य और आभ्यन्तर तप करते है।

वे छट्ठ-अट्ठम-अट्ठाई मास खमण जैसे अनशन करते हैं। जब आहार करते है तो भूख से कम खाते है। जहा तक हो कम द्रव्य काम मे लाते है। रस से भरपूर सामग्रियो का त्याग करते हैं। काया को कष्ट देते है अर्थात् उग्र विहार करते हैं। ग्रीष्म मे मध्यान्ह मे सूर्य के सामने दृष्टि लगाकर आतापना करते हैं। शीत काल मे वस्त्रहीन बनकर कडकडाती सर्दी मे ध्यान करते हैं—ऐसे कष्ट सहन करते हैं। एक ही स्थान पर निश्चल बन कर घटो बैठे रहते हैं। बिलकुल न हिलते हैं न डुलते हैं मानो पाषाण की मूर्ति हो।

छोटी या बडी कोई गलती हुई सयम को अतिचार लगने से तुरत प्रायश्चित करते है। पच परमेष्ठी भगवन्तो का ओंकार का ध्यान करते है। कोई गुरुजन हो, बालमुनि हो या ग्लानमुनि हो उनकी सेवा वैयावच्च करने का अवसर नहीं खोते हैं। सब काम छोडकर भी बीमार की सेवा मे तत्पर रहते हैं। ग्लानमुनि की सेवा को परमात्मा की सेवा समझते हैं। विनय तो उनका प्राण है। आचार्य, उपाध्याय आदि का विनय

करते है। अतिथि का विनय करते है। इनका व्यवहार विनय से शोभता है। इनमें इतनी मृदुता होती है कि जिससे अभिमान उनको सता नही सकता है।

रात्रि मे निद्रा त्याग कर मुनिराज कायोत्सर्ग करे। खड़े होकर एकाग्र मन से षड्द्रव्यो का चिंतन करे और दिन-रात के आठ प्रहर मे से पांच प्रहर (२४ घंटों मे १५ घटे) स्वाध्याय करे। शास्त्रो को विनयपूर्वक गुरुजनों से पढे। इन पर विचार करते समय शका पैदा हो उसका समाधान करावे। पढा हुआ भूल न जाये इसके लिए वह वापिस दुहरावे। उनके ऊपर अनुप्रेक्षा-चिंतन करे, चिंतन से स्पष्ट और पुष्ट बने हुए पदार्थो का दूसरे प्राणियों को उपदेश देवे। उनका मन स्वाध्याय मे लवलीन रहे।

ऐसे गुणों का विशाल साम्राज्य प्राप्त करने के लिए मुनीश्वर बाह्य-आभ्यन्तर १२ प्रकार के तप के आराधन में पुरुषार्थशील बने। कर्मो के बंधनो को तोड़ने के लिए कटिबद्ध हुए महामुनि अपना जीवन तपश्चर्या के चरणो में रख देते है। तप के व्यापक स्वरूप की आराधना, यही उनका जीवन होता है।

उन्मत्त वृत्तियो का शमन करने के लिए और उत्कृष्ट वृत्तियो को जाग्रत करने के लिए तप, त्याग और तितिक्षा का ही श्रेष्ठ मार्ग है। आराधना उपासना का उत्कृष्ट मार्ग है।

ॐ ह्रीं अर्हं नम

३२. सर्वनयाश्रय

कोई एक नयवाद को पकड कर जब एक विद्वान् प्रजा को धर्म समझाने का प्रयत्न करता है तब कैसा कोलाहल फैल जाता हे ? क्या यह अनजाना है ? विश्व के तमाम क्षेत्रो मे एकान्तवाद अभिशाप रूप ही सिद्ध हुआ है ।

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी ने अनेकान्त दृष्टि दी है । कोई भी व्यक्ति, वस्तु या प्रसग को अनेकान्त दृष्टि से देखने की कला सीखनी है । इस कला को प्राप्त कर मन मे तमाम प्रश्नो का समाधान किया जाये तो कैसी अपूर्व शान्ति मिले ?

यह अन्तिम प्रकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसका गम्भीरतापूर्वक परिशीलन करें ।

धावन्तोऽपि नयाः सर्वेस्युर्भावे कृतविश्रमा. ।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ॥१॥ ७४६

श्लोकार्थ

अपने-अपने अभिप्राय में दौड़ते हुए भी वस्तु स्वभाव में जिसने स्थिरता की है ऐसे वहुत से नय होते है। चारित्र गुण में आसक्त हुए साधु सर्व नयो के आश्रय करने वाले होते है।

विवेचन

नयवाद।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसमें कोई एक धर्म को ही नय मानता है। दूसरे धर्मो को स्वीकार नहीं करता है··· अपलाप करता है। इसलिए नयवाद को मिथ्यावाद कहा गया है। यशोविजय जी उसे 'नयाभास' कहते हैं।

नय सात हैं: नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवभूत।

हरएक नय का अपना अपना अभिप्राय होता है। एक का अभिप्राय दूसरे के अभिप्राय के साथ मिलान नही होता है। हरएक नय ने हरएक वस्तु के लिए अपना मन्तव्य वांध दिया है। ये सातो एक साथ मिलकर कोई सर्व सम्मत निर्णय नहीं कर सकतो है। हां, कोई समदृष्टि चितक महापुरुष इन सातो का समन्वय कर सकते हैं। ये महापुरुष हरएक नय को उनकी उनकी भूमिकाओं से न्याय देते है।

ऐसे महापुरुष चारित्र-गुण सम्पन्न महामुनि होते है। वे जब-जब कोई एक नय का मन्तव्य स्वीकार करते है तब-तब दूसरे नयो के मन्तव्यों की अवगणना नहीं करते है। उनको वे

कहते है 'आपके मन्तव्यो को भी यथा समय स्वीकार करूगा, इस समय इस नय के मन्तव्य की मुझे आवश्यकता है' यानी जड बुद्धि नही है, सघर्ष नही होता है। महामुनि की चारित्र-सम्पत्ति लुटती नही है नही तो चिढाये हुए नय का तूफान चारित्र-सम्पत्ति का नाश कर देता है।

पृथग्नया मिथ पक्षप्रति पक्ष कदर्थिता ।
समवृत्ति सुखास्वादी ज्ञानी सवनयाश्रित ॥२॥ २५०

श्लोकार्थ

अलग-अलग नय परस्पर वाद-प्रतिवाद से विडवित है। समभाव सुख का अनुभव करने वाला महामुनि (ज्ञान) सर्व नयो के आश्रित होता है।

विवेचन

कलिकाल सर्वज्ञ ने परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा है—"परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव से अन्य प्रवाद द्वेष से भरे हुए है। परन्तु सर्व नया को समान रूप से देखने वाला अपना सिद्धान्त पक्षपाती नही है।" वेदान्त कहता है आत्मा नित्य ही है।

बौद्ध दशन कहता है आत्मा अनित्य ही है।

ये हुए पक्ष और प्रतिपक्ष। दोनो परस्पर लडते हैं, वाग्युद्ध होता है और समय व शक्ति को नष्ट करता है। नही इसमे शान्ति या समता है, न इसमें मैत्री या प्रमोद है।

महामुनि वेदान्त और बौद्ध दोनो मान्यता को स्वीकार करके चलते हैं। आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य दृष्टि से नित्य है पर्याय दृष्टि से अनित्य है। द्रव्य दृष्टि से

वेदान्त दर्शन की मान्यता को बौद्ध दर्शन स्वीकार कर ले और पर्याय दृष्टि के बौद्ध दर्शन की मान्यता को वेदान्त दर्शन स्वीकार कर ले तो पक्ष प्रति पक्ष मिट जाये, सघर्ष टल जाये और परस्पर मैत्री स्थापित हो जाये।

ज्ञानी पुरुष इस तरह सर्व नयों का आदर करके सर्व के प्रति समभाव धारण कर सकते हैं और सुख का अनुभव करते हैं। कौन सा नय किस अपेक्षा से बात करता है, इस अपेक्षा को जानकर अगर सत्य का निर्णय किया जाये तो समभाव बना रहता है। सर्व नयों के दृष्टि बिन्दुओं का ज्ञान होना चाहिए। इसलिए तो कहा है कि. "ज्ञानी सर्वनयाश्रितः।"

नाप्रमाणं प्रमाण वा सर्वमप्यविशेपितम् ।
विशेपितं प्रमाणं स्यादिति सर्वनयज्ञता ॥३॥ २८१

श्लोकार्थ

सब वचन विशेप रहित हो तो वे एकान्त अप्रमाण नहीं है और प्रमाण भी नही है। विशेप सहित हो तो प्रमाण है। इस प्रकार सर्व नयों का ज्ञान होता है।

विवेचन

विशेष रहित अर्थात् निरपेक्ष।

विशेष सहित अर्थात् सापेक्ष।

कोई भी शास्त्र वचन''''शास्त्र कथन से प्रामाणिकता का निर्णय करने की यह पद्धति है। सच्ची रीति है। विचारिये कि यह वचन अपेक्षा वाला है? अन्य नय की सापेक्षता से कहा गया है? तो सच्चा। अगर अन्य नयो की निरपेक्षता से कहा गया है तो यह झूठा है। अप्रमाण है।

उपदेश माला में कहा है

"अपरिच्छियसुयनिहसस्स केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स
सव्वुज्जमेण वि कय अन्नाणतवे बहु पडई ॥"

"जिसने श्रुत-सिद्धान्त का रहस्य जाना नहीं और केवल सूत्र के अक्षरों के अनुसार चलते हैं उनका सर्व पुरुषार्थ से किया हुआ क्रियानुष्ठान अत्यन्त अज्ञान तप में आता है।"

जो शास्त्र वचन अपने सम्मुख आते हैं वे वचन किस अपेक्षा से कहे गये हैं, यह रहस्य जानना ही पड़ेगा। अपेक्षा जाने बिना निरपेक्षता से वचन को पकड़ना अप्रमाण है असत्य है।

सब नयों का ज्ञान [illegible] कहा जाता है जबकि वचन की अपेक्षाओं का ज्ञान होता है। तब साधक आत्मा को अपूर्व समता का अनुभव होता है। ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

लोके सर्वनयज्ञानां ताटस्थ्यं वाप्यनुग्रहः ।
स्यात् पृथग्नयमूढानां स्मयार्तिर्वातिविग्रहः ॥४॥ २५२

श्लोकार्थ

संसार में सब नयों को जानने वाले में मध्यस्थता अर्थात् उपकार बुद्धि होती है। अलग अलग नयों में ममत्व वाले में अभिमान की पीड़ा अथवा अत्यन्त कलह होता है।

विवेचन

मध्यस्थ दृष्टि। उपकार बुद्धि।

सब नयों की जानकारी के ये दो फल हैं। ज्यों-ज्यों नयों की अपेक्षा का ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों माध्यस्थ दृष्टि खिलती जाती है। मध्यस्थ दृष्टि [illegible] जाती है। [illegible] किसी भी दश

की तरफ झुकती नहीं है। किसी के मत का आग्रही नहीं बनता है। इनकी दृष्टि समन्वय की होती है।

हाँ, व्यवहार दशा में वह अपनी मध्यस्थ दृष्टि का परोपकार में उपयोग करता है। जहाँ एक नयवाद को पकड़ कर मतवाले वाद-विवाद के युद्ध में जूझ जाते हैं वहाँ यह मध्यस्थ दृष्टि महात्मा अपनी विवेक दृष्टि से उसको समझाने की कोशिश करता है।

अलग-अलग नयों में आग्रही बने हुए अभिमान से पीड़ित होते हैं। कितने ही अत्यन्त क्लेश से शोकाकुल होते हैं। यह उनके लिए स्वाभाविक ही है। इन्द्र भूति गौतम भगवान् महावीर के पास आये थे…… ……तब क्या था? अभिमान का ज्वर। मन में क्लेश कितना था? क्योंकि वे एक ही नय दृष्टि को पकड कर उसके आग्रही बने थे। भगवन्त ने उनको सर्वनय की दृष्टि प्रदान की। सर्वनयो का आश्रय लेने वाला कर दिया।

किसी एक ही मत…………एक ही वाद…… ……एक ही मन्तव्य पर मोहित न बन कर सर्वनयो का आश्रय का मध्यस्थ बनना चाहिए, यही सच्ची शान्ति का मार्ग है।

श्रेयः सर्वनयज्ञानां विपुलं धर्मवादतः।
शुष्कवादाद् विवादाच्च परेषां तु विपर्ययः ॥५॥ २५३

श्लोकार्थ

सर्वनय को जानने वाले को धर्मवाद से अत्यन्त कल्याण होता है। दूसरे एकान्त दृष्टियों को तो शुष्कवाद और विवाद से विपरीत (अकल्याण) होता है।

वाद नही चाहिए, विवाद नही चाहिए परन्तु सवाद चाहिए।

वाद-विवाद मे अकल्याण है और सवाद मे कल्याण है। एसा सवाद सिफ धमवाद मे ही है।

तत्वज्ञान का इच्छुक मनुष्य धमवाद के लिए पूछता है। तत्व ज्ञान विषयक जिज्ञासा प्रकट करता है और तत्वज्ञ इन जिज्ञासाओ को सन्तुष्ट करता है यह धमवाद है। सिफ अपना मत दूसरो पर थोपने के लिए शुष्क तक करे वह धर्मवाद नही है। सिर्फ विद्वत्ता का प्रदशन करने के लिए, दूसरो को पराजित करने के लिए तत्वो की चर्चा करे तो वह धमवाद नही है।

सवनयो का ज्ञाता महापुरुष ऐसा शुष्क वाद करेगा ही नही। वे तो मुमुक्षु ऐसे जिज्ञासु आत्माओ की शका का समाधान करते है। इसमे ही कल्याण समाया हुआ है। इसमे ही शान्ति अनुभव करते है।

जिनभद्रसूरिजी ने जिज्ञासा से आये हुए हरिभद्र पुरोहित के साथ धमवाद किया था, तो हरिभद्र पुरोहित हरिभद्रसूरि बने और जिन शासन को एक महान आचाय प्राप्त हुआ —
परन्तु बौद्धो के साथ जब हरिभद्र सूरि ने विवाद किया तब ? उनके मन मे कितना रोष और सताप था ? याकिनी महत्तरा को गुरुदेव के पास दौडना पडा और गुरुदेव ने उनको विवाद मे उबारा।

धमवाद के सवाद से ही कल्याण का पुनीत प्रवाह बहता है। इसलिए सवनयो का ज्ञान प्राप्त कर मध्यस्थ दृष्टि बना कर धमवाद में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्रकाशितं जनानां यैर्मतं सर्वनयाश्रितम् ।
चित्त परिणत चेद येषां तेभ्यो नमो नमः ॥३॥२५८

श्लोकार्थ

जिन पुरुषो ने सर्वनयो को आश्रित करके प्रवचन लोकों मे प्रकाशित किया है और जिनके चित्त मे जमा हुआ है उन्हे वारम्वार नमस्कार है ।

विवेचन

पूज्य उपाध्यायजी उन महापुरुषो पर न्योछावर हो जाते हैं जिन्होंने सर्वनयो को आश्रय करने वाला प्रवचन मनुष्यो के लिए प्रकाशित किया है और जिन पुण्यात्माओं ने इसको स्वीकार किया है, मन मे धारण किया है और हृदय से प्रेम किया है। उनको वारम्वार नमस्कार करते हुए उपाध्यायजी गद्गद हो जाते हैं।

उन त्रिभुवनपति श्रमण भगवान् महावीर को वारम्वार नमस्कार हो ···· ········कि जिन्होने ऐसा सर्वनयाश्रित प्रवचन प्रकाशित करके जीवो पर अनन्त उपकार किया है। उन सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रसूरि, मल्लवादी हरिभद्रसूरि·········· आदि महान् आचार्यो को पुनः पुन. नमस्कार हो जिन्होंने सर्वनयाश्रित धर्मशासन की मनुष्यो के लिए प्रभावना की है······ ········और अपने मन में इस शासन को हृदयंगम करके अद्भुत दृष्टि प्राप्त की है।

'भव भावना में' ऐसे महान् आचार्यों के इस दृष्टि से ही गुण गाये हैं।

"भद्द बहुसुयाण बहुजण संदेह पुच्छणिज्जाण ।
उज्जोइम्र भुवणाण झिणमि वि केवल मयके ॥"

केवल ज्ञान रूप चन्द्र अस्त हो गये हैं, जिन्होंने जगत को प्रकाशित किया है। और अनेक मनुष्यों की शकायें जिन से पूछ गरते हैं ऐसे बहुश्रुतों को धन्य है।"

बहुश्रुत सर्वनयज्ञ महापुरुषो के प्रति भक्ति बहुमान बताया गया है। उन्हें बारम्बार वन्दना की है। इनका सर्वोपरि महत्व गाया गया है।

> निश्चय व्यवहारे च त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि ।
> एकपाक्षिक विश्लेषमारूढा शुद्धभूमिकाम् ॥७॥२५५
> अमूढलक्ष्या सर्वत्र पक्षपातविवर्जिता ।
> जयन्ति परमानन्दमया सर्वनयाश्रया ॥८॥२५६

श्लोकार्थ

निश्चय नय में, व्यवहार नय में, ज्ञान नय में और क्रिया नय में एक पक्ष में रहे हुए भ्रांति के स्थान को छोड़कर, शुद्ध भूमिका ऊपर चढ़े हुए लक्ष्य न चूके ऐसे सब पक्षपात रहित परमानन्द रूप सर्वनय के आश्रयभूत (ज्ञानी) की जय हो।

विवेचन

इन्हें किसी का भी पक्षपात नहीं होता है चाहे वह निश्चयनय का हो या व्यवहारनय का, न किसी का आग्रह होता है ज्ञाननय का हो या क्रियानय का।

निश्चयनय तात्विक पक्ष को स्वीकार करती है और व्यवहारनय लोक में प्रसिद्ध पक्ष का स्वीकार करती है। निश्चयनय [illegible] के अभिमत पक्ष का अनुसरण करती है

और व्यवहारनय कोई एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करती है।

सर्वनयो का आश्रय करने वाला ज्ञानी पुरुष इसमे से कोई एक नय में नही अटकेगा भ्रान्ति मे नही फसेगा। न तो यह निश्चय नय की मान्यता को पकड़ के रक्खेगा और न व्यवहार नय की मान्यता का आग्रही वनेगा। वह उन उन नय के तर्को को सुनेगा पर उसमे ही नही अटकेगा।

मात्र ज्ञान की प्रधानता मानने वाला ज्ञान नय की दलीलो में नहीं फसेगा और मात्र क्रिया की प्रधानता स्वीकार करने वाला क्रिया नय की वातों मे आकर ज्ञान नय से तिरस्कार नही करेगा। दोनों नयों के प्रति उसकी दृष्टि मध्यस्थ रहती है। वह उन उन नय की मान्यता उनकी उनकी अपेक्षा से ही लेता है।

नयो के एकान्त आग्रह से ऊपर उठे हुए.......... अलिप्त हुए ये महाज्ञानी आत्मा की परम विशुद्ध भूमिका पर आरूढ होते है, उनके अन्तिम लक्ष्य की तरफ एकाग्र होते है। उन्हे कोई पक्षपात नही, आग्रह नही है।

मानो साक्षात परमामन्द की मूर्ति है। उनके पावन दर्शन से परमानन्द की अनुभूति होती है। सर्व नयों का आश्रय करने वाले इन परमानन्दी आत्माओ की जय हो!

जिन परमानन्दी आत्माओ की जय अपन वोलते हैं उनके पद चिन्हों पर चलने के लिए अपन को दृढ निश्चयी होना चाहिए। एकांत आग्रह की लोहे की वेड़ियों को तोड़कर अनेकांत के स्वतत्र प्रदेश में विचरण करने का सौभाग्य करना चाहिए।

पूर्णानदी ही परमानदी है। पूर्णानदी बनने के लिए इतने सोपान चढिये तब परमानदी बन जावेगे। इस जीवन का लक्ष्य पूर्णानदी बनने का बनाकर, दिशा बदलकर लक्ष्य की तरफ आगे बढना चालू रक्खें। विचारो मे सबनय दृष्टि आजावे तो बस। परमानन्द अपने आत्म प्रदेश मे फैल जायेंगे और रोग, शोक के आक्रद धुल जायेगे।

'ज्ञानसार के' ३२ अष्टको के इस अतिम श्लोक मे एकात दृष्टि का त्याग कर अनेकात दृष्टि प्राप्त करने का उपदेश दिया है। किसी भी वादविवाद मे पडे बिना सवादी धर्मवाद का आश्रय लेने को कहा गया है। परमानन्द का यह परमपथ है। पूर्णानदी बनने के लिए यह अद्भुत उपाय है। आत्मा को परमशान्ति देने का यह एकमात्र मार्ग है।

परमानन्दी जयवत हो।

विषयक्रम-निर्देश

पूर्णो मग्न स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रिय ।
त्यागी क्रिया परस्तृप्तो निर्लेपो नि स्पृहो मुनि ॥१॥
विद्याविवेक सपन्नो मध्यस्थो भयवर्जित ।
अनात्मशमक स्तत्वदृष्टि सवसमृद्धिमान् ॥२॥
ध्याताकर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधे ।
लोकसज्ञा विनिर्मुक्त शास्त्रदृग् निष्परिग्रह ॥३॥
शुद्धानुभववान् योगी नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसा भूमि सव नयाश्रित ॥४॥

श्लोकार्थ

ज्ञानादि से परिपूर्ण, ज्ञान मे मग्न, योग की स्थिरता वाला, मोहरहित तत्वज्ञ, उपशमवत, जितेन्द्रिय, त्यागी, क्रिया तत्पर, आत्मसतुष्ट निर्लेप, स्पृहारहित ऐसे मुनि होते हैं। (१)

विद्यासहित, विवेकसपन्न, पक्षपातरहित, निर्भय, स्वय की प्रशसा नही करने वाले, परमार्थ मे दृष्टिवाले और आत्मा की सपत्ति वाले ऐसे (मुनि होते) है। (२)

कर्म के फल का विचार करने वाले, ससार समुद्र से भयभीत, लोकसज्ञा से रहित, शास्त्र दृष्टि वाले और परिग्रह रहित (मुनि होते) हैं। (३)

शुद्ध अनुभव वाले, योगी, मोक्ष को प्राप्त करने वाले, भावपूजा के आश्रयी, ध्यान के आश्रयी, तप के आश्रयी और सवनयो के आश्रयी ऐसे मुनि होते है। (४)

विवेचन

आठ-आठ श्लोक का एक अष्टक ।
ऐसे बत्तीस अष्टक और बत्तीस विषय ।

इन विषयों को क्रमानुसार गठित करना, गठित करने में सकलन है। गठित में साधना का मार्ग दर्शन है। इन चार श्लोंको मे बत्तीस विषयों के नाम है। ग्रंथकार ने 'टबा' में हेतुपुरस्सर इनका क्रम समझाया है।

★पहला अष्टक है पूर्णता का।

लक्ष्य रहित प्रवृत्ति का कोई मूल्य नहीं है; कोई फल नही है। इसलिए पहले ही अष्टक में पूर्णता का लक्ष्य बताया है: आत्मा की पूर्णता का। यह लक्ष्य जीव, प्राणी का होता है. "मुझे आत्मगुणों की पूर्णता प्राप्त करनी ही है।" ऐसा संकल्प हो तो ही जीव ज्ञान में मग्न हो सकता है; इस लिए।

★दूसरा अष्टक है मग्नता का।

ज्ञान में मग्न। पर ब्रह्म में लीन। आत्मज्ञान में ही मग्नता। ऐसी स्थिति प्राप्त हो तब ही जीव की चंचलता दूर होती है और वह स्थिर बनता है। इसलिए मग्नता के बाद।

★तीसरा अष्टक है स्थिरता का।

मन–वचन–काया की स्थिरता। मन की स्थिरता प्राप्त करनी है। तो ही क्रियाओ का औषध काम करता है। स्थिरता का रत्न दीपक प्रगट करेंगे तो ही मोह–वासनाएँ कमजोर पड़ेगी। इसलिए।

★चौथा अष्टक है अमोह का।

'अह' और 'मम' ये दो मोहराजा के मंत्र है। इन दो मंत्रो में मोह का विष 'नाहं' 'न मम' के प्रतिपक्षी मन्त्रों से उतारने का उपदेश दिया गया है। इस तरह मोह का विष उतरे तो ही ज्ञानी बन सकते है। इसलिए।

★पांचवां अष्टक है ज्ञान का।

ज्ञान की परिणति होनी चाहिए। ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होना चाहिए। ज्ञान का अमृत, ज्ञान का रसायन और ज्ञान का ऐश्वय प्राप्त करना चाहिए। तो ही शान्त बन सकते है, कषायो का शमन हो सकता है। इसलिए।

★छट्ठा अष्टक है शम का।

कोई विकल्प नहा और आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलबन। ऐसी आत्मा इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर सकती है। इसलिए।

★सातवा अष्टक है इन्द्रिय-जय का।

विषया के बन्धन से आत्मा को बाँधने वाली इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले महामुनि ही सच्चे त्यागी बन सकते हैं। इसलिए।

★आठवा अष्टक है त्याग का।

जब स्वजन घन और इद्रियो के विषयो का त्यागी मुनि भयरहित और क्लेश रहित बनता है, अहकार और ममत्व से मुक्त होता है, तब उनमे शास्त्र वचन अनुसरण करने की शक्ति प्रगट होती है, इसलिए।

★नौवां अष्टक क्रिया का है।

प्रीति पूवक क्रिया, भक्ति पूवक क्रिया, जिनाज्ञानुसार क्रिया और नि सगतापूर्वक क्रिया करने वाला महात्मा परम तृप्ति का अनुभव करता है, इसलिए।

★दसवा अष्टक तृप्ति का है।

स्वगुणा मे तृप्ति। शान्तिरस की तृप्ति। ध्यानामृत से तृप्त। 'भिक्षुरेक सुखी लोके ज्ञान तृप्तो निरजन। भिक्षुमुनि

ही ज्ञान तृप्त बन कर परम सुख अनुभव करते हैं। ऐसी आत्मा ही निर्लेप रह सकती है। इसलिए।

★ग्यारहवां अष्टक है निर्लेप का।

भले ही पूरा संसार पापो से—कर्मों से लिप्त रहता है परन्तु ज्ञानसिद्ध पुरुष इससे लिप्त नहीं रहता है। ऐसी ही आत्मा निःस्पृह बन सकती है; इसलिए।

★बारहवां अष्टक है निःस्पृहता का।

निःस्पृही आत्मा को यह ससार तृण समान है। उसे न कोई भय है और न कोई इच्छा है। फिर उन्हें कहना ही क्या? फिर उन्हें संकल्प विकल्प भी कैसे हो? ऐसी आत्मा ही मौन धारण कर सकती है, इसलिए।

★तेरहवां अष्टक मौन का है।

न बोलने लायक मौन तो एकेन्द्रिय भी पालन करते हैं। यह तो विचारों का मौन है। अशुभ..........अपवित्र विचारों का मौन पालन करना चाहिए। ऐसा मौन जो पालन कर सकता है वही आत्मा विद्या सपन्न हो सकती है, इसलिए।

★चौदहवाँ अष्टक है विद्या का।

अविद्या का त्याग और विद्या को स्वीकार करती हुई आत्मा ही आत्मा को हमेशा अविनाशी देखती है। ऐसी आत्मा विवेक संपन्न बन जाती है, इसलिए।

★पंद्रहवां अष्टक है विवेक का।

दूध और पानी की तरह मिले हुए कर्म और जीव को मुनिरूपी राजहंस भिन्न करते है। ऐसी भेदज्ञानी आत्मा ही मध्यस्थ बनती हैं, इसलिए।

★सोलहवा अष्टक है मध्यस्थता का।

कुतर्क का त्याग   राग-द्वेष का त्याग किया और अतरात्म भाव मे रमणता आई यानी मध्यस्थ बन गये, ऐसी आत्मा निर्भय होती है। इसलिए।

★सत्रहवा अष्टक है निर्भयता का।

भय की भ्रान्ति नही। जो आत्मस्वभाव मे अद्वैत मे लीन बन गया हो वह निर्भयता के आनद को अनुभव करता है। उसको स्वप्रशसा रुचिकर नही लगती है, इसलिए।

★अट्ठारहवा अष्टक है आत्म प्रशसा का।

गुणो से जो परिपूर्ण है यानी सतुष्ट है, उन्हें अपनी प्रशसा करना रुचिकर नही लगता है, स्वप्रशसा सुनने की भी उन्हे इच्छा नही होती है। ज्ञानानद की मस्ती मे, परपर्याय का उत्कर्ष क्या करना ? इनको तत्व दृष्टि मिलती है। इसलिए।

★उन्नीसवा अष्टक है तत्वदृष्टि का।

तत्वदृष्टि रूपी को नही देखता है, अरूपी को देखता है। अरूपी को देखकर उसमे मग्न होता है। ऐसी आत्मा सर्व समृद्धि को अपने स्वय में ही देखता है, इसलिए।

★बीसवा अष्टक है सर्वसमृद्धि का।

इद्र चक्रवर्ती, शेषनाग, महादेव, कृष्ण आदि की समृद्धि वैभव उन्हे अपनी आत्मा मे दिखाई देती है। ऐसा आत्मदर्शन हमेशा बना रहे इसके लिए मुनि कर्मविपाक का चितन करे। इसलिए।

★इक्कीसवां अष्टक है कर्मविपाक का।

कर्मों के फल का विचार। शुभाशुभ कर्मों के उदय का

विचार करने वाली आत्मा स्वयं की आत्मसमृद्धि में संतुष्ट रहती है और संसार समुद्र से वे भयभीत होते हैं, इसलिए।

★बाईसवां अष्टक है, भवोद्वेग का।

संसार के वास्तविक स्वरूप को समझी हुई आत्मा चारित्र क्रिया मे एकाग्रचित बने जिससे उन्हे लोकसंज्ञा स्पर्श न करे, इसलिए।

★तेईसवां अष्टक है लोक संज्ञा त्याग का।

लोकसंज्ञा की महानदी में मुनि वह न जावे यह तो उल्टे प्रवाह पर चलने वाला वीर होता है। लोकोत्तर मार्ग पर चलता हुआ वह मुनि शास्त्र दृष्टि वाला होता है, इसलिए।

★चौवीसवां अष्टक शास्त्र का है।

इनकी दृष्टि ही शास्त्र है। "आगम चक्खू साहू" साधु की आंखे शास्त्र ही होती है। ऐसा मुनि परिग्रही हो सकता है ? वह तो अपरिग्रही होता है, इसलिए।

★पच्चीसवां अष्टक है परिग्रह त्याग का।

बाह्य-अंतरंग के त्यागी महात्मा के चरण मे देव भी नमन करते है, ऐसे मुनिवर ही शुद्ध का अनुभव कर सकते हैं, इसलिए।

★छब्वीसवां अष्टक है अनुभव का।

अतीन्द्रिय परमब्रह्म को पाने वाला अनुभव का अनुभवी महात्मा कैसा महान् योगी बन जाता है ? इसलिए।

★सत्ताईसवां अष्टक योग का है।

मोक्ष के साथ समन्वय करने वाले योग की आराधना करने वाले योगी स्थान वर्णादि योग और प्रीति भक्ति आदि

अनुष्ठानो म लीन योगी ज्ञान योग करने के लिए सुयोग्य बनता है। इसलिए।

★अट्ठाईसवा अष्टक नियाग का है।

ज्ञानयज्ञ मे आसक्ति। सर्व उपाधि रहित शुद्धज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्म मे ही सर्वस्व अपरण करने वाला मुनि भाव-पूजा की भूमि स्पर्श करता है, इसलिए।

★उनतीसवा अष्टक है भाव पूजा का।

आतमदव के नौ अग ब्रह्मचय को नौ वाडो से पूजन करता हुआ मुनि अभेद-उपासना रूप भावपूजा मे लीन होता है। ऐसी आत्मा ध्यान मे लीन होती है, इसलिए।

★तीसवा अष्टक ध्यान का है।

ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता साधता हुआ महा-मुनि कभी भी दु खी नही होता है। निमल अतरात्मा मे पर-मात्मा की छाया पडती है जिससे तीथकर नाम कर्म बांधता है और तप का मार्ग पकडता है। इसलिए।

★इकतीसवा अष्टक है तप का।

बाह्य और आभ्यतर तप की आराधना से स र कर्मों के क्षयरूप मोक्षदशा की प्राप्ति होती है। उस ही की पूर्ण विशुद्धि होती है। ऐसा महात्मा परम प्रशम परम माध्यस्थ भाव को धारण करता है इसलिये।

★बत्तीसवा और आखिरी अष्टक है सवनयाश्रय का।

सर्वनयो को वह स्वीकार करता है। कोई पक्षपात नही परमानन्द से भरपूर ऐसी सर्वोत्कृष्ट आत्म भूमिका प्राप्त कर वह कृतकृत्य बन जाता है।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का यह कैसा अपूर्व मार्ग है। बस, अब सिर्फ लक्ष्य चाहिए। अपना दृढ निर्णय चाहिए। आत्मा की यह सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने का पुरुषार्थ चाहिए। क्रमश. बत्तीस विषयों को हृदयंगम कर, इन पर चिंतन कर इस तरफ प्रयाण करना है।

*आत्म तत्व की श्रद्धा, आत्म तत्व की प्रीति और आत्म तत्व के उत्थान की तीव्र तमन्ना..........क्या सिद्धि नही कर सकते है? कायरता, अशक्ति और आलस्य को भगा दो और स्फूर्ति से सिद्धि के मार्ग में प्रस्थान करो इसके सिवाय दुःख क्लेश और सताप का अत नही हो सकता है। जन्म-मरण का चक्कर रुके ऐसा संभव नही है। कर्मों की शृंखला टूटना संभव नही है।

यह मानव जीवन आत्म तत्व के उत्थान के लिए ही लगादो, जीवन का दूसरा कोई उपयोग करो ही नही।

---

*तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः।।

—मुण्डकापनिषद्

उप संहार

स्पष्ट निष्टङ्कित तत्त्वमष्टकै प्रतिपन्नवान् ।
मुनिर्महोदय ज्ञानसारं समधिगच्छति ॥१॥

श्लोकार्थ

अष्टको से स्पष्ट निश्चित किये हुए तत्व को पाये हुए मुनि महान् अभ्युदय करने वाले ज्ञान के सारभूत चारित्र को प्राप्त करते हैं ।

विवेचन

इन ३२ तत्वों को प्राप्त किये हुए मुनि ऐसा विशुद्ध चारित्र प्राप्त करते हैं कि जिससे उनका महान् अभ्युदय होता है ।

ज्ञान का सार चारित्र है ।

"ज्ञानस्य फलं विरति" यह भगवान उमास्वाति का वचन है। यशोविजयजी महाराज कहते हैं, "ज्ञानस्य सारं चारित्रम्" ज्ञान का सार चारित्र है। इससे भी आगे बढ कर वे ज्ञान का सार मुक्ति बताते हैं। अर्थात् ज्ञान का सार चारित्र और चरित्र का सार मुक्ति है।

सामाइअमाइअ सुअनाण जाव बिन्दुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं सारो चरणस्स निव्वाणं ॥

"सामायिक से चौदहवें पूर्व 'बिन्दुसार' तक श्रुतज्ञान है। उनका सार चारित्र है और चारित्र का सार निर्वाण है।

३२ अष्टकों को प्राप्त करने का अर्थ सिर्फ पढना ही नहीं है परन्तु इन ३२ विषयों को आत्मसात करना है। मन-वचन-काया को इन ३२ विषयों में रंग देना चाहिए। ज्ञानसार चारित्र को अंगीकार करना है। चारित्रमय बन जाना है।

निर्वाण के लक्ष्य को लेकर अगर इन ३२ विषयो का चिंतन मनन हो तो आत्मा की अपूर्व उन्नति हो सकती है। कर्मों के वन्धन से आत्मा मुक्त होती जाती है। आत्म सुख का अनुभव करने वाले वनते जावें। इस लक्ष्य से यशोविजयजी महाराज ने इन ३२ विषयो का संकलन कर तत्वनिर्णय किया है।

निर्विकारं निरावाध ज्ञानसारंमुपेयुपाम्।
विनिवृत्तपराशाना मोक्षोऽत्रैव महात्मनाम् ॥२॥

श्लोकार्थ

विकाररहित, पीड़ारहित ज्ञानसार को प्राप्त करने वाले, पर की आशा से निवृत्त हुए महात्माओं को इस भव में ही मोक्ष है।

विवेचन

ज्ञानसार!

कोई विचार नहीं, कोई पीडा नहीं। ऐसा ज्ञानसार जिन्हें मिल गया उन्हें क्या परपदार्थ की आशा हो सकती है? क्या ये विकारी और कष्टदायक परपदार्थों की इच्छा करेंगे?

ज्ञान के सारभूत चारित्र में निर्विकार स्थिति है। निरावाध अवस्था है। जिससे इस महात्मा को कर्मबन्ध न हो। कर्मों का वन्धन विकारों से होता है। परपदार्थों की स्पृहा में से जन्मे हुए विकार कर्मवन्धन कराते हैं।

चारित्रवान आत्मा के कर्मवन्ध नही होते है, यही मोक्ष है। पूर्वकृत कर्मो का उदय होता है परन्तु नये कर्मो का वन्धन नहो होता है। कर्मो के उदय के समय ज्ञानसार होने से नये

कम नहीं बनने देते ह । नये कर्मबन्धन न हो यही मोक्ष है।

परपदार्थों की स्पृहा मे से जन्मे हुए विकार और इन विकारो म जन्मी हुई पीडायें जिन महात्मा को स्पर्श न करे उन महात्मा का यहा ही मोक्ष सुख का अनुभव होता है। अर्थात् पर आशाओ से निवृत्त होना यह मोक्ष के लिए अनिवार्य शर्त है। आत्मा के सिवाय सब पर ह ।

'अन्योऽह स्वजन त् परिजनात् विभवात् शरीरकाच्चेति ।
यस्य नियता मतिरिय न बाधते तस्य शोककलि ॥''

इस अन्यत्व भावना को दृढ करने वाला महात्मा निर्विकार, निराबाध चारित्र का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्त करता है।

चित्तमार्द्रीकृत ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभि ।
नाप्नोति तीव्रमोहाग्निप्लोपशोषकदर्थनाम् ॥२॥

श्लोकार्थ

ज्ञान सार रूप सरस्वती की तरगो से कोमल हुआ मन मोहरूपी तेज अग्नि के दाह के दु ख से दुखी नही होता है।

विवेचन

ज्ञानसार की पवित्र सरिता सरस्वती है।

सरस्वती के पवित्रजल मे निष्प्राण अस्थि एव भस्मि प्रवाह करने से सद्गति नही होती है, स्वर्ग नही मिलता है। इस सरस्वती के निमल प्रवाह मे अपना मन प्रवाहित करना है। ज्ञानसार की सरस्वती मे बार बार मन को डुबकी लगवाओ और कोमल बनने दो, इन्हे सरस्वती की तरगो की फुहारो स सरोबार होने दो।

फिर कितना ही मोह दावानल सुलगता रहे, भले ही मन को इनकी अग्नि की भुलस हो परन्तु मन को कोई दर्द नही होगा। अरे; भीगा..........पानी से भीगे हुए कपड़े को आग जला सकती है ? तो फिर सरस्वती की तरंगों से भीगे हुए मन को मोह अग्नि जला सकती है क्या ?

यह ज्ञानसार ग्रन्थ पवित्र सरस्वती है। ज्ञानसार की पवित्र वाणी से मन को भीगा ही रखना चाहिए। मोह-वासनाओं की आग मन को जला नही सकती है।

मोह ....दावानल से बचने के लिए निरतर 'ज्ञान सार' की वाणी का पान करने के लिए उपाध्यायजी महाराज उपदेश देते है। सर्व दु:ख, सर्व वेदनाये और सर्व अशान्ति का मूल मोह ही है। मोह के असर से मन मुक्त हुआ कि दु:ख-अशान्ति या वेदना नही रहेगी।

अचिन्त्या काऽपि साधूनां ज्ञानसार गरिष्ठता।
गतिर्ययोर्ध्वमेव स्याद् अधः पातः कदापि न ।।४।।

श्लोकार्थ

मुनियो को ज्ञानसार का भार कुछ समझ में नही आये ऐसा है। जिस भार से ऊँच गति ही होती है। कभी भी नीचे नही गिरते हैं।

विवेचन

हाँ, 'ज्ञानसार' यह वजन है। न समझ सकने लायक वजन। इस वजन को उठाने वाला वजनदार हो जाता है। ज्ञानसार के भार से-वजन से वजनदार बना हुआ मुनि जब नीचे गिरने की बजाये ऊर्ध्वगति करता है तब आश्चर्य होता है।

'वजन से मानव ऊँच गति प्राप्त करता है।' ज्ञानसार का वजन ऐसा समझने लायक है, अचिन्त्य है। उपाध्यायजी महाराज ने सरल भाषा मे ज्ञानसार के प्रभाव का कैसा सरल वर्णन किया है।

'ज्ञानसार से वजनी बनो। ज्ञानसार का वजन बढाओ। आपकी ऊर्ध्वगति ही होगी। अध पतन कभी भी नही होगा। यह उपदेश ग्रन्थकार ने लाक्षणिक शैली मे दिया है। वे दृढता पूर्वक विश्वास दिलाते है कि ज्ञानसार को प्राप्त करने वाले महात्मा की उन्नति ही होती है, अध पतन होगा ही नही। ज्ञानसार को प्राप्त कर आप निर्भय बनें, दुर्गति का भय छोड देवे, पतन का भय छोडदें। ज्ञानसार के अचिन्त्य प्रभाव से आप उन्नति के पथ पर आगे ही बढते जायेंगे।

'भारी वस्तु नीचे जावेगी, ऊँची नही जायेगी।' यह प्रकृति का नियम है। इस नियम का यहा विरोधाभास है। "भारी होते हुए भी ऊँचे जाती है।" ज्ञानसार के भार मे-वजन से भारी हुआ मुनि सद्गति का, मोक्ष का अधिकारी होता है।

क्लेशक्षयो हि मण्डूक चूर्णतुल्य क्रियाकृत ।
दग्धतच्चूर्ण सदृशो ज्ञानसार कृत पुन ॥५॥

श्लोकार्थ

क्रिया से किया हुआ दु खो का नाश मेढक के शरीर के चूर्ण के समान है।

विवेचन

मेढक के शरीर का चूर्ण बन गया हो परन्तु ज्या ही

उस पर वर्षा की बून्दे पड़ती हैं तो उनमे नये मेंढक पैदा हो जाते है। इसी तरह क्रियाओ से ······ धर्म क्रियाओं से जो क्लेश एव अशुभकर्मो का नाश होता है वे कम निमित्त मिलते ही पुन. पैदा हो जाते है।

मेढक के शरीर का चूर्ण जला दिया जावे फिर इन पर वर्षा की झड़ी भी लगे तो भी मेढक उत्पन्न नही होगे। इसी तरह ज्ञान से जले हुए कर्म वापिस अकुरित नही होते है: भुगतने नही पडते है।

इसका अर्थ यह है कि ज्ञान के माध्यम से कर्मो का क्षय करे। शुद्ध क्षयोपशमभाव से कर्मो का क्षय करे। वापिस वे कर्मबधन न हो। ज्ञानसार की यह महत्ता है। ज्ञानसार से किया हुआ कर्मक्षय ही सचमुच सार्थक है।

मात्र क्रियाओ द्वारा ही कर्मक्षय मानने वालो को इस बात का सोचना जरूरी है। भले ही वे अशुभ कर्मो का नाश करते हो परन्तु आश्रव की वर्षा होते ही पुनः अशुभ कर्मबन्धन होगे ही। इसलिए ज्ञान के माध्यम से कर्मक्षय करे। ये कर्म पुन पुन. भोगने नही पड़ेगे।

आप अपने ज्ञानानन्द मे मस्त रहें। ज्ञान मग्न रहे ···· कर्मो का क्षय होता ही रहेगा। आप को चिता नहीं करनी है कि "मेरा कर्मक्षय हो गया है या कर्मक्षय होने बाकी है? निश्चिन्त और निर्भय बनकर ज्ञानानद मे लीन रहे।

ज्ञानपूता परेऽप्याहु. क्रियां हेमघटोपमाम्।
युक्त तदपि तद्भाव न यद् भग्नाऽपि सोज्झति ॥६॥

श्लोकार्थ

दूसरे मत भी ज्ञान की पवित्र क्रिया को स्वरण के घडे के समान कहते है क्योंकि वह टूटी हुई क्रिया, क्रिया की भावना को त्यागती नही है (स्वरण घट टूट जावे तो भी सोने की कीमत तो रहती ही है।

विवेचन

सोने का घडा हो,

मानलो यह घडा टूट गया, तो भी सोना तो रहेगा ही। सोना कही पर भी नही जावेगा। ऐसे स्वरण घट की उपमा के माध्यम से ग्र थकार ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्व समझाते हैं।

ज्ञान युक्त क्रिया सोने का घडा है। मानलो क्रिया टूट गई तो भी स्वरण के समान ज्ञान तो रहेगा ही। ज्ञान युक्त क्रिया से जिन कर्मों का क्षय किया वे पुन बधते नही है।

ऐसे स्वर्ण घट के समान ज्ञान युक्त क्रिया का महत्व बौद्ध दर्शन आदि भी स्वीकार करते हैं। ज्ञान हीन क्रिया करने का विधान कोई भी दर्शन नही करता है। ज्ञान रहित भाव विहीन क्रिया से क्या लाभ ?

जिन जिन क्रियाओं के अनुरूप भाव होना चाहिए। भाव मे क्रिया प्राणवान बनती है, मूल्यवान बनती है। ज्ञान रहित क्रिया मिट्टी के घडे के समान है। घडा फूटने के बाद कोई काम नही आ सकता है। इसलिए अपनी धर्म क्रियाओं को ज्ञानयुक्त बनावें, भाव भीनी बनावें। 'कर्म क्षय' करने के लक्ष्य से हर एक धर्म क्रिया करें।

क्रियाशून्य च यज्ज्ञान ज्ञानशून्या च या क्रिया।
अनयोरतर नेय भानुखद्योतयोरिव ॥७॥

श्लोकार्थ

जो ज्ञान क्रिया रहित है और ज्ञान रहित जो क्रिया है, इन दोनों का अन्तर सूर्य एवं जुगनू के समान है।

विवेचन

क्रिया रहित ज्ञान सूर्य समान है और ज्ञान रहित क्रिया जुगनू के समान है। सूर्य से जुगनू के प्रकाश की क्या तुलना? लाखों करोड़ो जुगनू एकत्रित करे तो भी सूर्य के प्रकाश की समानता नही कर सकते हैं। इसी तरह ज्ञान विना कितनी भी क्रिया की जावे तो भी सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञान की तुलना में नही तुल सकती है।

भले ही क्रिया रहित ज्ञान है, अर्थात् ज्ञान के अनुसार इनके जीवन में क्रिया नहीं है तो भी इनका प्रकाश तो इनको ही रहने वाला है। भले ही सूर्य वादलों से घिरा हुआ हो तो भी इसके प्रकाश से संसार का व्यवहार चलता है जव कि क्षीण अग्नि के प्रकाश में क्या आप कोई कार्य कर सकते है?

हां, क्रियारहित ज्ञान का अर्थ यह न करे कि क्रिया निरपेक्ष ज्ञान! क्रियाओ की अवहेलना या तिरस्कार नहीं, परन्तु क्रियाओं की उपादेयता स्वीकार करने वाला ज्ञान। ज्ञान युक्त क्रिया करते करते क्रिया छूट गई हो और क्रिया का भाव टिका हुआ हो ऐसा ज्ञान।

ज्ञान विना क्रिया के जुगनू वनकर सतोष मानने वाले और आजीवन ज्ञान की उपेक्षा करने वाले ग्रंथकार के इन वचनों का मनन करे और ज्ञानोपासक वने। ज्ञान सूर्य वने।

चारित्र विरतिः पूर्णा ज्ञानस्योत्कर्ष एव ही।
ज्ञानाद्वैतनयेदृष्टि देया तद् योग सिद्धये ॥८॥

भावना व्यक्त करते हैं। साथ ही साथ इस ग्रन्थ के चिंतन मनन से मन पवित्र बनेगा और प्रसन्नता अनुभव करेंगे ऐसा पूर्ण विश्वास देते है।

निश्चय नय से आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न-शील बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

केपाचिद्विपयज्वरातुरमहो चित्त परेषा विषा—
वेगोदर्ककुतक मूर्च्छित मथान्येपा कुवैराग्यत ।
लग्नालर्कमवाधकूपपतित चास्ते परेपामपि
स्तोकाना तु विकारभाग्रहित तज्ज्ञानसाराश्रितम् ॥

श्लोकार्थ

अहो! कितने ही लोगो का मन विपय रूप ज्वर से पीडित है, उनका मन विप के समान तीव्र असर कारक ऐसे कुतर्क से मूर्च्छित है, कईयो का मन गलत वैराग्य के पागल पन की तरह है, दूसरा का मन भी अज्ञानरूपी कुवे मे पडा हुआ है परन्तु कुछ लोगो का मन विकार के भार से रहित है वे ज्ञानसार से आश्रित है।

विवेचन

समार मे भिन्न भिन्न वृत्ति वाले जीव रहते हैं। जीवो के मन अलग अलग तरह से वासनाओ से घिरे हुए है। इनका स्वरूप दर्शन यहा ग्रन्थकार कराते हैं और इनमे ज्ञानसार से रगे हुए मन कितने होते है, यह बताते हैं।

★ कईयो के मन शब्द आदि विपयो की स्पृहा और उपभोग से पीडित हैं।

★ कई मानव कुतर्क के सर्पों से काटे हुए है। कुतर्क विषधर के तीव्र जहर से मूर्च्छित हो गये हैं।

ज्ञानाद्वैत में लीनता हो।

सिद्धि सिद्धपुरे पुरन्दर पुरस्पर्धावहे लब्धवाँ—
श्चिद्दीपोयमुदारसार महसा दीपोत्सवे पर्वणि।
एतद् भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां
तैस्तैर्दीपशतैः सुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः ॥

श्लोकार्थ

श्रेष्ठ और सारभूत तेज सहित यह ज्ञान दीपक इन्द्र के नगर से स्पर्धा करने वाले सिद्धपुर में दीवाली के पर्व मे समाप्त हुआ है। यह ग्रन्थ, भावना के रहस्य से पवित्र हुए मन मे हुए चमत्कार वाले जीवों को, वे वे अच्छे निश्चय मत रूप सैकडों दीपावली के समान हमेशा दीवाली का उत्सव हो।

विवेचन

यह 'ज्ञानसार' का दीपक दीपावली के महापर्व में पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ है। सिद्धपुर मे ग्रंथकार चातुर्मास काल में विराजमान थे तब यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

ज्ञान दीपक का प्रकाश श्रेष्ठ है। सब प्रकाशो में यह प्रकाश सारभूत है। जो मानव इस ग्रन्थ का अध्ययन, परिशीलन करे उसे रहस्यमय ज्ञान प्राप्त होता है। रहस्य से मन पवित्र होता है और आश्चर्य से चमत्कृत होता है। ऐसे जीवों को ग्रन्थकार कहते है :

हे मानवो ! आप हमेशा निश्चयनय के सैकडो दीपक जलावो और हमेशा दीवाली का महोत्सव मनावो।

इस ग्रन्थ के चितन से ससार के जीव हमेशा आत्मज्ञान के दीपक प्रगट कर आनन्द का अनुभव करे, ऐसी ग्रन्थकार

सुनाई देती हैं क्या ? इसमे ३२ गीत गाये हैं, और आतमराम कैसे आनन्द से भरपूर दिखाये गये हैं ?

यह 'ज्ञानसार' ग्रन्थ की रचना का तो बहाना मात्र है। इसके माध्यम से चारित्र रूपी लक्ष्मी के सग पूर्णानन्दी आत्मा ने लग्न महोत्सव आयोजित किया है। कितना इनका अहो भाग्य है।

ग्रथकार पूज्य उपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि "इस ग्रन्थरचना के महोत्सव मे मैंने चारित्र रूपी लक्ष्मी के साथ लग्न किया है।"

महोत्सव, सचमुच आश्चय चकित करने वाला है।

भावस्तोम पवित्र गोमयरसै लिप्तैव भू भवत
ससिक्ता समतोदकैरथ पथिन्यस्ता विवेकस्रज ।
अध्यात्मामृतपूर्णकामकलशश्चक्रेऽत्र शास्त्रे पुर
पूर्णानन्दघने पुर प्रविशति स्वीय कृत मगलम् ।।

श्लोकार्थ

इस शास्त्र मे भावना के समूह रूप गोबर से भूमि लीपी हुई है। चौतरफ समभाव रूप पानी से छिडकाव हुआ है, मार्ग में विवेक रूप पुष्पो की मालायें रखी हैं, आगे अध्यात्म रूप अमृत से भरा हुआ काम कुभ रखा है, ऐसे पूर्णानन्द से भरपूर आत्मा नगर मे प्रवेश करती है तब स्वय का मगल हुआ है।

विवेचन

इस "ज्ञानसार" नगर मे जिस पूर्णानन्दी आत्मा ने प्रवेश किया, उनका कल्याण हो गया।

★ कई स्वयं को वैरागी कहते हैं परन्तु यह भी एक तरह का पागलपन है। इनकी स्थिति पागल कुत्ते के समान है।

★ कई मोह अज्ञान के गहरे कुवे मे पड़े हुए हैं, इनकी दृष्टि कुवे के वाहर कैसे पड़ सकती है।

★ हां, कुछ जीव इस संसार में ऐसे है जिनके मन विकार के भार से दवे हुए नहीं है। "ज्ञानसार" का आश्रय ऐसे जीव ही लेते है और ले सकते है।

जातोद्रेक विवेक तौरणततौ धावल्य मातन्वति
हृद्गेहे समयोचित: प्रसरति स्फीतश्च गीतध्वनि:।
पूर्णानन्दघनस्य किं सहजया तद्भाग्य भङ्गयाऽभव-
न्नैतद् ग्रन्थमिपात् कर ग्रहमहश्चित्रं चरित्र श्रिय:।।

श्लोकार्थ

जहां अधिकतर विवेक रूपी तोरण की माला वांधी हैं और उज्ज्वलता को वढ़ाने वाले हृदय रूप घर में समय के योग्य गोत की ध्वनि प्रसारित होती है, पूर्ण आनन्द से भरपूर आत्मा का, स्वाभाविक उसके भाग्य की रचना से इस ग्रन्थ रचना के वहाने से चारित्र रूपी लक्ष्मी के साथ आश्चर्य करने वाले पाणिग्रहण का महोत्सव क्या नही हुआ है ?

विवेचन

पूर्णानन्दी आत्मा का चारित्र-लक्ष्मी से लग्न आपने देखा है ? ग्रन्थकार लग्नोत्सव वताते है, देखिये :-

ये जगह जगह वंधे हुए तोरण देखो। ये विवेक के तोरण हैं। यह लग्न का मण्डप देखा ? यह हृदय का मण्डप है। प्रकाश से उज्ज्वल है। इसमें आपको लग्नोत्सव के गीतों की ध्वनि

श्री विजय देव सूरि का गच्छ गुणो से पवित्र और विशाल है। उस गच्छ मे श्री जीत विजयजी नामक महान विद्वान महात्मा हुए हैं। उनके गुरुभाई श्री नय विजयजी थे।

ये श्री नय विजयजी ग्र थकार–उपाध्याय श्री यशोविजयजी के गुरुदेव थे।

ग्र थकार ने अपना नाम निर्देश न करके स्वय को काशी मे प्राप्त हुई न्याय-विशारद की उपाधि का उल्लेख किया है।

आपने अपनी इस रचना के लिए आशा व्यक्त करते हुए कहा है कि

"यह कृति महाभाग्यशाली पुरुषो की प्रेम पात्र हो।" इस 'ज्ञानसार' के अध्ययन, चिंतन मनन से प्रीति और आनन्द प्राप्त करने वाली आत्माये महान् भाग्यवत हैं।

'ज्ञानसार से ज्ञानानन्द प्राप्त करने का सब जीवो को सौभाग्य प्राप्त हो।

इस नगर की भूमि पवित्र भावों के कडो से लिपी हुई है। सर्वत्र समभाव का पानी छांटा हुआ है। इस नगर के विशाल राज मार्ग पर जगह जगह विवेक पुष्पों की मालायें लटकाई गई है। मुख्य स्थानों पर अध्यात्म के अमृत से भरे हुए काम कुभ रक्खे हुए है।

यह नगर कितना भव्य और रमणीक है। ऐसे नगर में सब जीव प्रवेश नहीं कर सकते है। बहुत थोड़े लोग ही इस नगर मे प्रवेश कर सकते है, अगर इसमें अपना प्रवेश हो गया हो तो 'सर्व मंगलमागल्यम्' हो जाये।

पूर्णानन्दी आत्मा ही इस नगर में प्रवेश कर सकती है। पूर्णता के आनन्द के लिए तड़पता जीव ही ऐसे नगर की खोज करता है। ग्रन्थकार अपन को 'ज्ञानसार' का नगर बताते है। इसमें प्रवेश करके कृत-कृत्य बनिए।

गच्छे श्रीविजयादिदेवमुगुरो· स्वच्छे गुणानां गणैः
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीत विजय प्राज्ञाः परामैयरु· ।
तत्सातीर्थ्य भृता नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशोः
श्री मन्नयामविशारदस्य कृति नामेषा कृतिः प्रीतये॥

श्लोकार्थ

सद्गुरु श्री विजयदेव सूरि के गुणों के समूह से पवित्र महान् गच्छ मे जीत विजय नामक पडित अत्यन्त महत्वशाली हुए है। उनके गुरुभाई नय विजय पंडित के शिष्य श्रीमद् न्याय-विशारद (यशो विजयजी उपाध्याय) को यह कृति महाभाग्यवत पुरुषो की प्रीति पात्र हो।

विवेचन

ग्रंथकार स्वयं की गुरू परपरा का वर्णन करते है।

१ उपसर्ग—परिसह

उपसग का अर्थ है कष्ट, आपत्ति ।

जब श्रमण भगवान महावीर देव ने ससार त्याग किया था तब इन्द्र ने प्रभु से प्राथना की थी

"प्रभो ! तवोपसर्गा भूयास सन्ति ततो द्वादशवर्षो यावत् वैयावृत्यनिमित्त तवान्तिके तिष्ठामि ।'

'हे प्रभो ! आपको अनेक उपसग हैं इसलिए बारह वर्ष तक मैं वैयावच्च (सेवा) के लिए आपके पास रहता हू ।"

★ भगवान को उपसर्ग आये अर्थात् कष्ट हुए । ये उपसग तीन वर्गो से आते हैं । १ देव २ मनुष्य ३ तिर्यंच । इन तीन तरफ से दो प्रकार के उपसग होते हैं १ अनुकूल २ प्रतिकूल

(१) भोग-सभोग की प्राथना आदि अनुकूल उपसर्ग हैं ।

(२) मारना, लूटना, तग करना आदि प्रतिकूल उपसग हैं ।

शास्त्रीय भाषा मे अनुकूल उपसग को "अनुलोम उपसर्ग' कहते हैं और प्रतिकूल उपसग को 'पडिलोम उपसग' कहते हैं ।

जिनको अन्तरग शत्रु काम-क्रोध-लोभ आदि पर विजय प्राप्त करने की साधना करनी हो उन्हे ये उपसग समता भाव से

★ जे केइ उपसग्गा उप्पज्जति त जहादिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्ख-जोणिया वा, अणुलोमा वा पडिलोमा वा, ते उप्पन्ने सम्म सहइ, समइ, तितिक्खइ, अहियासेइ ।

—कल्पसूत्र सूत्र ११८

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

परिशिष्ट
(ज्ञानसार)

१. उपसर्ग–परिसह
२. पांच शरीर
३. बीस स्थानक तप
४. उपशम श्रेणी
५. चौदह पूर्व
६. पुद्‌गलपरावर्तकाल
७. कारणवाद
८. चौदह राजलोक
९. यति धर्म
१०. समाचारी
११. गोचरी: ४२ दोष
१२. चार निक्षेप
१३. चार अनुयोग
१४. ब्रह्म अध्ययन
१५. ४५ आगम

(१५) अलाभ	इच्छित वस्तु नही मिलना।
(१६) रोग	रोग की पीडा होना।
(१७) तृण स्पर्श	सथारे पर बिछाये हुए घास का स्पश।
(१८) मल	शरीर पर मैल (कचरा) जमना।
(१९) सत्कार	मान सम्मान मिलना।
(२०) प्रज्ञा	बुद्धि का गर्व।
(२१) अज्ञान	ज्ञान प्राप्त नही होना।
(२२) सम्यक्त्व	जिनोक्त तत्त्व मे सदेह करना।

★ इन परिसहो मे विचलित नही होना। सम्यक् भाव से सहन करना। साधू जीवन मे आते हुए इन विघ्नो को समता भाव से सहन करना चाहिए। इससे मोक्ष माग मे स्थिर रहा जाता है और कर्मो की निर्जरा होती है।

२ पाच शरीर

इस विश्व मे जीवो का शरीर सिफ एक तरह का ही नही है। चारगतिमय इस विश्व मे पाच प्रकार के शरीर होते हैं। ये पाच भेद शरीर के आकार के माध्यम से नही हैं परन्तु शरीर जिन पुद्गलो से बनता है इन पुद्गलो के वर्ण के माध्यम से है।

यहाँ शरीर के अगो का विवेचन 'विचारपञ्चाशिका' नामक ग्र थ के आधार से किया गया है।

★ मार्गाच्यवननिजरार्थं परिषोढव्या परिसहा ॥८॥
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कार पुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि।

—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६

सहन करने चाहिए। भगवान महावीर ऐसे उपसर्ग सहकर ही वीतराग–सर्वज्ञ बने थे।

परिसह :

मोक्ष मार्ग में स्थिर होना और कर्म निर्जरा के लिए सम्यक् सहन करने को परिसह कहते है। परन्तु यह परिसह जोवन की स्वाभाविक परिस्थितियों में से उत्पन्न हुए कष्ट होते है। परिसह में कोई देव, मनुष्य या तिर्यञ्च के अनुकूल प्रतिकूल हमले नही होते है। परिसह का उद्भव स्थान मनुष्यों के स्वयं का मन होता है। बाह्य निमित्तों को प्राप्त कर मन में उठता हुआ क्षोभ है। ये परिसह २२ प्रकार के है 'नवतत्व प्रकरण' आदि ग्रन्थों में इनका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

(१) क्षुधा : भूख लगना।
(२) पिपासा : प्यास लगना।
(३) शीत : सरदी लगना।
(४) ऊष्ण : गरमी लगना।
(५) दश : मच्छरो आदि की तकलीफ।
(६) अचेल : जीर्ण वस्त्र पहनने।
(७) अरति : सयम मे अरुचि।
(८) स्त्री : स्त्री को देख कर विकार होना।
(९) चर्या : उग्र विहार।
(१०) नैषेधिकी : एकान्त स्थान मे रहना।
(११) शय्य : ऊंची नीची खड्डे वाली जमीन पर रहना।
(१२) आक्रोश : दूसरों का क्रोध या तिरस्कार होना।
(१३) वध . प्रहार होना।
(१४) याचना : भिक्षा मागना।

★ सर्व गति के सब जीवो का तैजस और कार्मण शरीर होता है।

शरीरो का प्रयोजन

★ औदारिक शरीर से सुख दुःख का अनुभव करना, चारित्र धर्म का पालन करना और निर्वाण प्राप्त करने का कार्य होता है।

★ वैक्रिय शरीर वाले जीव अपना स्थूल एव सूक्ष्म अनेक रूप कर सकते है। शरीर लम्बा या छोटा बना सकते हैं।

★ आहारक शरीर चौदह पूर्व धर ज्ञानी पुरुष आवश्यकता होती है तब ही बनाते हैं। आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ज्ञान बल से खेंच कर शरीर बनाते हैं। वे शरीर के माध्यम से महाविदेह क्षेत्र मे जाते हैं वहा तीर्थंकर भगवतो मे अपने सशयो का निराकरण करते है फिर शरीर का विसर्जन कर देते हैं।

★ तैजस शरीर खाये हुए आहार की परिपाक करता है। इस शरीर के माध्यम से शाप दे सकते है और आशीर्वाद भी दे सकते है।

★ कार्मण शरीर द्वारा जीव एक भव से दूसरे भव मे जा सकता है।

इन पाचो शरीर से आत्मा की मुक्ति हो तब ही आत्मा सिद्ध हुआ ऐसा कह सकते हैं। मुक्त होने का पुरुषार्थ औदारिक शरीर से होता है।

३ बीस स्थानक तप

'कर्मणा तापनात् तप' कर्मों को तपावे—नष्ट करे उसे तप कहते हैं। ऐसे तरह तरह के तप करना शास्त्रो मे *बताया*

शरीर के नाम

(१) औदारिक
(२) वैक्रिय
(३) आहारक
(४) तैजस
(५) कार्मण

शरीर की बनावट

पाँच प्रकार के द्रव्यों मे एक द्रव्य है पुद्गलास्तिकाय। यह पुद्गल चौदह राजलोक में व्याप्त है। इनके २६ वर्गणाये (विभाग) है। इसमें जीवनोपयोगी केवल ८ वर्गणाये है। इसमें जो "औदारिक वर्गणा" है, उससे औदारिक शरीर बनता है। ''वैक्रिय वर्गणा' के पुद्गलों से वैक्रिय शरीर बनता है। 'आहारक वर्गणा के पुद्गलों से 'आहारक शरीर' बनता है। तैजस वर्गणा के पुद्गलों से तैजस शरीर बनता है और कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से कार्मण शरीर बनता है। जैसे मिट्टी के पुद्गल से मिट्टी के घड़े बनते हैं, सोने के पुद्गल से सोने का घड़ा और चांदी के पुद्गल से चांदी का घड़ा बनता है उसी तरह इन पुद्गलों से उसी अनुरूप शरीर बनता है।

किन के कौन सा शरीर होता है।

★ तिर्यञ्च एवं मनुष्य को औदारिक शरीर होता है।

★ देव और नारकीय जीव को वैक्रिय शरीर होता है। (वैक्रियलब्धिवाला तिर्यञ्च और मनुष्य को भी वैक्रिय शरीर होता है।)

★ चौदह पूर्व के ज्ञानी मनुष्यों का आहारक शरीर होता है।

अयोग्य आहार, उपधि आदि का त्याग और सुयोग्य आहार–उपधि आदि साधुजनो को वितरण। यह द्रव्य त्याग है। क्रोध आदि अशुभ भावो का त्याग और ज्ञान आदि शुभ भावो का साधुजनो को वितरण–यह भाव त्याग है। इन दोनो तरह के त्याग मे शक्ति अनुसार निरतर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

(१६) तप समाधि वाह्य–आभ्यतर बारह प्रकार के तप मे शक्ति अनुसार प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

(१७) दस विध वैयावच्च आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्षक, कुल, गुण, सघ और साधर्मिक आदि १३ प्रकार की वैयावच्च करनी चाहिए। (१) भोजन, (२) पानी (३) आसन (४) उपकरण–पडिलेहण (५) पाद प्रमाजन (६) वस्त्र प्रदान (७) औषध प्रदान (८) मार्ग मे सहायता (९) दुष्टो से रक्षण (१०) दड (डडा) ग्रहण (११) मात्रक अर्पण (१२) सज्ञा मात्रक अर्पण, और (१३) श्लेष्मात्रक अर्पण।

(१८) अपूर्व ज्ञान ग्रहण नया नया ज्ञान प्राप्त करना।

(१९) श्रुत भक्ति ज्ञान भक्ति।

(२०) प्रवचन प्रभावना जिनोक्त तत्वो का उपदेश आदि देना।

पहले और अतिम तीर्थकर ने (ऋषभदेव और महावीर स्वामी) इन वीस स्थानको की आराधना की थी। मध्य के २२ तीर्थंकरो मे से किसी ने दो किसी ने तीन किसी ने सब स्थानको की आराधना की थी।

—प्रवचन सारोद्धार द्वार १० के अनुसार

वीस स्थानक तप की आराधना की प्रचलित विधि निम्न प्रकार है।

★ एक एक स्थानक की एक एक ओली की जाती है।

है। 'तीर्थंकर नाम कर्म' बधाने वाला मुख्य तप वीस स्थानक की आराधना का तप है।

नीचे के सात स्थानों में अनुराग, गुण स्तुति और भक्ति सेवा, ये आराधना करनी पड़ती है।

(१) तीर्थंकर : अष्ट प्रातिहार्य की शोभा के योग्य।

(२) सिद्ध : सर्व कर्म रहित, परम सुखी और कृत कृत्य।

(३) प्रवचन : द्वादशांगी और चतुर्विध संघ।

(४) गुरू : यथावस्थित शास्त्रार्थ कहने वाले। धर्म उपदेश आदि देने वाले।

(५) स्थविर : वयस्थविर (६० वर्ष से ज्यादा)
श्रुत स्थविर (समवायाग तक के ज्ञाता)
पर्याय स्थविर (२० वर्ष का दीक्षित)

(६) बहुश्रुत : जो महान ज्ञानी हो।

(७) तपस्वी : अनेक प्रकार के तप करने वाले तपस्वी मुनि।

(८) निरतर ज्ञानोपयोग :

(९) दर्शन : सम्यग् दर्शन

(१०) विनय : ज्ञान आदि का विनय

(११) आवश्यक : प्रतिक्रमणादि दैनिक धर्म क्रिया

(१२-१३) शील-व्रत : शील यानी उत्तर गुण, व्रत यानी मूलगुण।

(१४) क्षण-लव-समाधि : क्षण, लव आदि काल के नाम है। अमुक समय निरतर संवेगभावित होकर ध्यान करना।

(१५) त्याग समाधि : त्याग दो प्रकार के है; द्रव्य त्याग और भाव त्याग।

जप का पद	स्वस्तिक	खमासमण	काउ लो	नवकार वाली
ॐ नमो अरिहंताण	१२	६२	१२	२०
ॐ नमो सिद्धाण	३१	३१	३१	२०
ॐ नमो पवयणस्स	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो आयरियाण	३६	३६	३६	२०
ॐ नमो थेराण	१०	१०	१०	२०
ॐ नमो उवज्झायाण	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो लोये सव्व साहूण	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो नाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो दसणस्स	६७	६७	६७	२०
ॐ नमो विणय सपन्नस्स	५२	५२	५२	२०
ॐ नमो चारित्तस्स	७०	७०	७०	२०
ॐ नमो बभवय धारिण	१८	१८	१८	२०
ॐ नमो किरियाण	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो तवस्स	१२	१२	१२	२०
ॐ नमो गोयमस्स	११	११	११	२०
ॐ नमो जिणाण	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो सयमस्स	१७	१७	१७	२०
ॐ नमो अभिनव नाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो सुयस्स	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो तित्थस्स	३८	३८	३८	२०

'बीस स्थानक पद पूजा' तथा 'विधिप्रपा' आदि ग्रन्थो से यह विधि–सकलित की गई है।

४ उपशम श्रेणी

'अप्रमत्तसयत' गुण स्थानक मे रही हुई आतमा उपशम श्रेणी का प्रारभ करती है। इस श्रेणी मे 'मोहनीय कर्म' की उत्तर प्रकृतियो का क्रमश उपशम होता है इसलिए इसको 'उपशम श्रेणी' कहा जाता है।

एक ओली २० अट्ठम की होती है। अट्ठम (उपवास) करने की शक्ति न हो तो २० छट्ठ (दो उपवास) करके ओली हो सकती है। अगर यह भी शक्ति न हो तो २० उपवास, २० आयंबिल या २० एकासणां करके भी ओली हो सकती है।

★ एक ओली ६ महिनों में पूर्ण करनी चाहिए।

★ ओली की आराधना के दिन पौषधव्रत करना चाहिए। सब पदों की आराधना में पौषधव्रत नहीं कर सकते है तो पहले सात पद की ओली मे तो पौषधव्रत करना ही चाहिए। पौषध में अनुकूलता न हो तो देशावगासिक व्रत (८ सामायिक और २ प्रति क्रमण) करे।

★ ओली के दिनो में प्रति क्रमण, देव वदन, ब्रह्मचर्य पालन, भूमि शयन आदि नियम पालन करने चाहिए। हिसा-मय व्यापार का त्याग, असत्य और चोरी का त्याग....प्रमाद का त्याग करना चाहिए।

★ २० स्थानक की २० ओली पूर्ण करने पर महोत्सव करे, प्रभावना करे, उजमण करके इस महान तप की आरा-धना पूर्ण होने का आनंद व्यक्त करे।

★ अगर ६ महिनो में एक ओली न हो तो वापिस ओली चालू करनी पड़ती है।

★ हर एक ओली के दिन जिनेश्वर भगवान के समक्ष स्वस्तिक, खमासमण और काउसग्ग करना चहिए। हर एक पद की २० नवकारवाली गिननी चाहिए।

★ ये सब क्रिया करके उन उन पद के गुणों का स्मरण चितन करके आनदित होना चाहिए।

का समय अन्तर्मुहूर्त होता है। फिर आत्मा उपशम काल मे प्रवेश करती है।

यथा प्रवृत्तिकरण मे व्यवहार करती आत्मा (प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुण विशुद्ध होने से) शुभ प्रकृतियो के रस में अनन्त गुणी वृद्धि करते है। अशुभ प्रकृति के रस मे हानि करते हैं, पूव स्थिति वध की अपेक्षा से पल्योपम के असख्यात भाग न्यून न्यून स्थिति वध करता है। परन्तु यहा स्थिति-घात, रसघात, गुणश्रेणि या गुण सक्रम नही होता है, क्योकि उसके लिए आवश्यक विशुद्धि का अभाव होता है।

अन्तर्मूहूर्त के वाद अपूर्वकरण करते हैं। यहा स्थिति-घात आदि पाचो होते हैं। अपूवकरणकाल समाप्त होने के वाद अनिवृत्तिकाल होता है उसमे भी स्थिति घातादि पाचो होते है। उनका काल भी अन्तर्मुहूत का ही होता है। इस अनिवृत्तिकरण का सख्यात भाग वीतने पर जव एक भाग वाकी रहता है तव अन्तरकरण करता है। अनन्तानुवधी कपाय का एक आवलिका प्रमाण निषेको को छोडकर ऊपर के निषेको का अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण के दलिको को वहां से उठा उठा कर वध्यमान अन्य प्रकृतियो मे डालते हैं, और नीचे की स्थिति तो एक आवलिका प्रमाण होती है उनके दलिक को भुगतवाकर अन्य प्रकृति मे 'स्तिवुक सक्रम' द्वारा डालकर भोगकर क्षय करते हैं।

अन्तरकरण के दूसरे समय मे अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति वाले दलिको का उपशम करते हैं। पहले समय मे कुछ दलिको को उपशम करते हैं, दूसरे समय मे असख्याता-गुणा तीसरे समय मे उससे असख्यातागुणा इस प्रकार

दूसरा मत यह है कि अनंतानुवंधी कषाय की उपशम का अप्रमत संयम ही नही परन्तु अविरत, देश विरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत भी कर सकते है।

परतु दर्शनत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय. मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशम तो संयत ही कर सकता है, यह सर्वसम्मत नियम है।

अनंतानुवंधी कषाय की उपशमता :

★ ४–५–६–७ गुणस्थानको में से कोई एक गुण स्थान में रहता है।

★ तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या में से कोई एक लेश्या वाला।

★ मन, वचन, काया के योग से किसी योग में वर्तमान।

★ साकार उपयोग वाला।

★ अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपमस्थिति वाला।

★ श्रेणि के करण–काल पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त काल तक विशुद्ध चित्तवाला।

★ परावर्तमान प्रकृतियां (शुभ) वांधने वाला।

प्रति समय शुभ प्रकृति में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृति में अनुभाग की हानि करता है। पहले कर्मो की जितनी स्थिति वांधता था अव वे कर्म पूर्व स्थिति वन्ध की अपेक्षा पल्योपम का असंख्यात भाग स्थिति वांधता है।

इस तरह अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होने के वाद यथा प्रवृत्तिकरण, पूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करते हैं। हर एक करण

मिथ्यात्व और मिश्र का एक आवलिका प्रमाण जो प्रथम स्थिति गत दलिक है उन्हे स्तिवुक सक्रम द्वारा सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति मे सक्रमण कराता है। सम्यक्त्व के प्रथम स्थितिगत दलिको को भोग कर क्षय करता है। इस तरह क्रमश दर्शनत्रिक का क्षय होने के उपरान्त उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दर्शनत्रिक की उपर्युक्त स्थिति मे रहे हुए दलिको का उपशमन करता है। इस प्रकार दर्शनत्रिक का उपशमन करते हुए प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानक मे सैकडो वार आवागमन करके वापिस चारित्र मोहनीय का उपशमन करने से प्रवृत्त होता है।

चारित्र मोहनीय का उपशमन

चारित्र मोहनीय कम का उपशमन करने के लिए पुन तीन करण करने पडते हैं। उसमे यह विशेष है कि यथाप्रवृत्त करण अप्रमत्त गुणस्थानक में होता है। अपूर्वकरण अपूर्वकरण -गुणस्थानक मे होता है। अपूर्वकरण मे स्थितिघातादि पाचो काय होने के बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानक मे अनिवृत्तिकरण करता है। यहाँ भी पूर्वोक्त पाचो कार्य होते हैं।

अनिवृत्तिकरण—करणकाल के सख्यात भाग गये बाद मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियो का अतरकरण करता है। [दर्शन सप्तक के अलावा २१ प्रकृति] वहा जो वेद और सज्वलन कषाय का उदय हो उसका उदयकाल प्रमाण प्रथम स्थिति करता है। शेष ११ कषाय और ८ नोकषाय की आवलिका—प्रमाण प्रथम स्थिति करता है।

अन्तरकरण करके अतर्मुहूर्त काल मे नपु सकवेद का उपशमन करता है। उसके बाद अतर्मुहूर्त काल में स्त्री वेद का

प्रति समय असंख्यातागुणा २ दलिकों का उपशम करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होते ही संपूर्ण अनन्तानुवंधी कपायों का उपशम होता है।

उपशम की व्याख्या :

धूल के ऊपर पानी डालकर घन के द्वारा कूटने से जैसे धूल जम जाती है इसी तरह कर्मों पर विशुद्धिरूप जल छांट कर अनिवृत्तिरूपी घन द्वारा कूटने से जम जाती है। वह उपशम कहलाती है। उपशम होने के वाद उदय, उदीरणा, निवत्ति, निकाचना आदि करण नहीं लग सकते हैं अर्थात् उपशम हुए कर्मों का उदय............उदीरणा आदि नहीं होती हैं।

अन्य मत :

कितने ही आचार्य अनंतानुवधी कपाय का उपशमन नहीं मानते है, परन्तु विसंयोजना या क्षपण ही मानते हैं।

दर्शनत्रिक की उपशमना :

क्षायोपशमिक सम्यग्हष्टि आत्मा (संयम में रहते हुए) एक अन्तर्मुहूर्त काल में दर्शनत्रिक, (समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशमन करते है। उपशमन करते हुए—पूर्वोक्त तीन करण करते हुए वढती विशुद्धि वाला अनिवृतिकरण काल के असंख्य भाग के वाद अन्तरकरण करता है। अतरकरण में सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है और मिथ्यात्व—मिश्र की आवलिका प्रमाण स्थिति करता है। इसके वाद तीनों प्रकृति के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अंतरकरण के दलिक को वहाँ से उठा उठा करके सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति में डालता है।

माया को समयन्यून दो आवलिका काल में उपशमन करता है। इस तरह अश्वकरण करण समाप्त होता है।

(२) किट्टिकरण—काल मे पूव स्पर्धक और अपूर्व स्पर्धको मे से द्वितीय स्थिति मे रहे हुए दलिको को लेकर प्रति समय अनत किट्टियाँ करता है। किट्टीकरण काल के चरम-समय मे एक साथ अप्रत्याख्यानावरण—प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशमन करता है। यह उपशमन होते ही सज्वलन लोभ के बध का विच्छेद होता है और बादर सज्वलन लोभ का उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त जीव सूक्ष्म सपरायवाला बनता है।

(३) किट्टिकरण—काल दसवा गुण स्थानक का काल है, (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है।) यहाँ दूपरी स्थिति से कितनी ही किट्टियें ग्रहण करके सूक्ष्म सपरायन काल जितनी प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। समय न्यून दो आव लिका मे बचे हुए दलिक का उपशमन करता है। सूक्ष्म सपराय के अन्तिम समय मे सपूर्ण सज्वलन लोभ उपशान्त होता है। आत्मा उपशा त मोहवाली बनती है।

उपशान्तमोह—गुणस्थानक का जघन्यकाल एक समय का है और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त का है, इसके बाद वे अवश्य गिरते हैं।

पतन

उपशान्त मोही आत्मा का पतन दो तरह से होता है।

(१) आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु होती है और अनुत्तर देवलोक मे अवश्य जाते हैं। देवलोक में उन्हे प्रथम समय मे ही चौथा गुणस्थानक प्राप्त होता है।

उपशमन करता है। उसके वाद अन्तर्मुहूर्त में हास्यादिषट्क का शमन करते है और उसी समय पुरुष वेद का वंव-उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त दो आवलिका काल में (एक समय कम) सम्पूर्ण पुरुष वेद का विच्छेद करता है।

फिर अन्तर्मुहूर्त काल मे एक साथ ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-कषाय का उपशमन करता है। ये उपशांत होते ही उसी समय सज्वलन क्रोध का वन्ध-उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके वाद दो आवलिका (एक समय कम) मे संज्वलन क्रोध का उपशमन करता है। काल के इस क्रम से ही अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण मान का एक साथ ही उपशमन करता है। फिर सज्वलन मान का उपशमन करता है। (वव-उदय-उदीरणा का विच्छेद करता है।)

इसके उपरांत वह लोभ का वेदक वनता है।

लोभ वेदनकाल के तीन विभाग है :

(१) अश्वकर्ण—करण काल।

(२) किट्टिकरण—काल

(३) किट्टिवेदन—काल ।

(१) प्रथम विभाग में संज्वलन लोभ की दूसरी स्थिति से दलिकों को ग्रहण कर प्रथम स्थिति वनाता है और वेदन करता है। अश्वकर्ण-करण-काल में रहा हुआ जीव प्रथम समय में ही अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और सज्वलन इन तीनों लोभ का एक साथ उपशमन प्रारम्भ करता है। विशुद्धि में चढता हुआ जीव अपूर्व स्पर्धक करता है। इसके वाद सज्वलन

और नपु सकवेद दोनो का उपशमन करता है। यह उपशमन नपु सकवेद के उदयकाल के उपान्त्य समय तक होती है। वहा स्त्रीवेद का पूर्ण रूपेण उपशमन होता है। आगे सिर्फ नपु सक-वेद की एक समय की उदयस्थिति शेप रहती है वह भी भोगने पर आत्मा अवेदक बनती है। इसके बाद पुरुपवेद वगैरह ७ प्रकृति का एक साथ उपशमन करना चालू करता है।

★ जो आत्मा स्त्रीवेद के उदय मे श्रेणी माडता है। वे दर्शन त्रिक के बाद नपु सकवेद का उपशमन करता है, इसके बाद चरम समय जितनी उदय स्थिति को छोडकर स्त्रीवेद के शेप दलिको का उपशमन करता है। चरम समय के दलिक भोग कर क्षय होने के बाद अवेदी बनता है। अवेदक बनने के बाद पुरुपवेद आदि ७ प्रकृति का उपशमन करता है।

५ चौदह पूर्व

पूर्व पद सख्या	विवरण
१ उत्पाद ११ क्रोड पद	जिसमे 'उत्पाद' के आधार पर सब द्रव्य और सब पर्यायों की प्ररूपणा की गई है।
२ आग्रायणीय ९६ लाख पद	जिसमे सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय और जीवो के परिमाण का वर्णन किया गया है।
३ वीर्य प्रवाद ७० लाख पद	जिसमे जीव और अजीवो के वीय का वर्णन किया गया है। [अग्र–परिमाण, अयनम् – परिच्छेद अर्थात् ज्ञान]

(२) उपशान्तमोह—गुणस्थानक का काल पूर्ण होने से जो जीव गिरे वह नीचे किसी भी गुण स्थानक में पहुँच जाता है। दूसरा सास्वादन गुण स्थानक से होकर पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक मे भी जाता है।

उपशम श्रेणी कितनी वार ?

★ एक जीव को समस्त संसार चक्र में पांच वार उपशम श्रेणी की प्राप्ति होती है।

★ एक जीव एक भव में ज्यादा से ज्यादा दो वार उपशम श्रेणी प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो दो वार उपशम श्रेणी पर चढ़ता है वह इसी भव में क्षपक श्रेणी प्राप्त नहीं कर सकता है। यह मतव्य कर्म ग्रन्थ के रचयिता आचार्यो का है। आगम ग्रन्थों का मत है कि एक भव मे एक ही श्रेणी प्राप्त कर सकता है। उपशम श्रेणी मांडने वाला क्षपक श्रेणी दो भव मे कभी भी प्राप्त नही कर सकता है।

"मोहोपशमो एकस्मिन् भवे द्वि स्यादसन्ततः।
यस्मिन् भवे तूपशम क्षयो मोहस्य तत्र न॥"

वेदोदय और श्रेणी

★ ऊपर जो उपशम श्रेणी का वर्णन किया गया है वह पुरुप वेद के उदय श्रेणी प्राप्त करने वाली आत्मा को लेकर किया गया है।

★ जो आत्मा नपुंसक वेद के उदय मे श्रेणी मांडता है वे सर्वप्रथम अनन्तानुवंधी और दर्शन त्रिक का तो उपशमन करते ही है परन्तु स्त्रीवेद या पुरुपवेद के उदय में श्रेणी माँडने वाली आत्मा जहां नपुंसकवेद का उपशमन करते है वहाँ नपुंसक वेद में श्रेणी मांडने वाली आत्मा भी नपुसंक वेद का ही उपशमन करता है। इसके वाद स्त्रीवेद

१२	प्राणायु १ क्रोड ५६ लाख	इस पूव मे जीव के दस प्राणो का वर्णन और जीवो के आयुष्य का वणन किया गया है।
१३	क्रिया विशाल ६ क्रोड पद	इस पूव मे कायिकी आदि क्रियाओ का उनके भेद–प्रभेद के साथ वर्णन किया गया है।
१४	लोक विन्दुसार १२॥ क्रोड पद	जैसे श्रुतलोक मे अक्षर के ऊपर रहा हुआ विन्दु श्रेष्ठ है उसी तरह 'सर्वाक्षर सन्निपात लब्धि' प्राप्त करने के इच्छुक साधक के लिए यह पूव सर्वोत्तम है।

पूव का अय क्या ?

यह पूर्व शब्द शास्त्र ग्र थ जैसे अथ मे काम मे लाया हुआ शब्द है। तीर्थंकर जब धमतीर्थ की स्थापना करते हैं तब इस पूव का उपदेश देते हैं। फिर गणधर इन उपदेशो के आधार पर 'आचारांग' आदि सूत्रो की रचना करते है।

६ पुद्गल परावर्त काल

जहा गणित का प्रवेश असभव है, ऐसे काल को जानने के लिए 'पल्योपम' 'सागरोपम' 'उत्सर्पिणी' अवसर्पिणी' 'काल चक्र' पुद्गल परावत जैसे शब्दो को काम मे लिया है। ऐसे शब्दो की स्पष्ट परिभाषा ग्रन्थो में दी गई है। यहा अपन 'प्रवचन सारोद्धार' ग्र थ के आधार पर पुद्गल परावत' काल को समझें।

४. अस्ति नास्ति प्रवाद ६० लाख पद	जो खरशृंगादि पदार्थ विश्व में नहीं हैं और जो धर्मास्तिकायादि पदार्थ हैं, उनका वर्णन इस पूर्व में है। अथवा हर एक पदार्थ का स्व-रूपेण अस्तित्व और पर-रूपेण नास्तित्व प्रतिपादन किया गया है।
५. ज्ञान प्रवाद १ क्रोड पद [एक कम]	इस पूर्व में पांच ज्ञान के भेद-प्रभेद उनका स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।
६. सत्य प्रवाद १ क्रोड ६ पद	सत्य यानी संयम उसका विस्तृत वर्णन इस पूर्व मे किया गया है।
७. आत्म प्रवाद ३६ क्रोड पद	अनेक नयों द्वारा आत्मा के अस्तित्व का और आत्मा के स्वरूप का इस पूर्व मे वर्णन है।
८. कर्म प्रवाद १ क्रोड ८० लाख पद	ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो के वन्ध, उदय, सत्ता आदि का इसमें भेद-प्रभेद के साथ वर्णन है।
९. प्रत्याख्यान प्रवाद ८४ लाख पद	प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) का भेद-प्रभेद के साथ इस पूर्व में वर्णन किया हैं।
१०. विद्या नवाद ११ क्रोड १५ हजार पद	विद्याओं की साधना की प्रक्रियाये और उससे होने वाली सिद्धियो का वर्णन इस पूर्व में है।
११. कल्याण प्रवाद २६ क्रोड पद	ज्ञान, तप आदि शुभ योगो की सफलता और प्रमाद निद्रा आदि अशुभ योगों के अशुभ फल का वर्णन।

उतना काल बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त का काल कहलाता है। (आहारक शरीर तो एक जीव मात्र चार बार ही बनाता है अर्थात् पुद्गलपरावत काल मे वह उपयोगी नही होने से उसे नही लिया है।)

(२) सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावत काल

औदारिक आदि शरीरो मे से किसी एक शरीर से एक जीव ससार मे परिभ्रमण करता हुआ सब पुद्गलो को पकड कर, भोगकर छोड दे, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है। विवक्षित शरीर के अलावा दूसरे शरीर से जो पुद्गल ग्रहण किये जाते है और भोगे जाते हैं वे नही गिने जाते है।

(३) बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त

क्रम मे या उत्क्रम से एक जीव लोकाकाश के सब प्रदेशो को मृत्यु से स्पश करने मे जितना समय लगाता है उस काल विशेप को बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहते है। अर्थात चौदह राज लोक के असख्य आकाश प्रदेश (आकाश का एक ऐसा भाग कि जिसका और भाग न हो सके) है। उन एक एक आकाश प्रदेश मे उस जीव की मृत्यु होती है इसमे जो समय लगता है उसे 'बादर क्षेत्र पुद्गल परावत' कहते हैं।

(४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त

जीव की कम से कम अवगाहना भी असख्य प्रदेशात्मक है। फिर भी कल्पना करें कि जीव की कोई एक आकाश प्रदेश, मे मृत्यु हुई है। इसके बाद इसके पास के आकाश प्रदेश मे मृत्यु होती है —फिर इसके पास के तीसरे आकाश प्रदेश मे मृत्यु होती है इस तरह क्रमश एक के बाद एक आकाश प्रदेश

१० कोडा कोडी [१० क्रोड × १० क्रोड] सागरोपम
= १ उत्सर्पिणी
= १ अवसर्पिणी

★ ऐसे अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का समूह हो तब एक पुद्‌गल परावर्त कहा जाता है। अतीत काल अनन्त पुद्‌गलपरावर्त का होता है।

अतीतकाल से अनंत गुणा ज्यादा भविष्य काल है। अर्थात् अनागतकाल में जो पुद्‌गल परावर्त हैं वे अतीतकाल से अनन्त गुणा ज्यादा है।

❀ यह 'पुद्‌गल परावर्त' चार तरह का है।

(१) द्रव्य पुद्‌गल परावर्त

(२) क्षेत्र पुद्‌गल परावर्त

(३) काल पु० प०

(४) भाव पु० प०

ये चारों पुद्‌गलपरावर्त २-२ तरह के हैं· (१) वादर (२) सूक्ष्म

(१) वादर : द्रव्य पुद्‌गलपरावर्त :

एक जीव संसार अटवी में भ्रमण करता हुआ, अनंत भवों में औदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-भाषा श्वासोच्छ्‌वास और मन रूप सर्व पुद्‌गलों को (१४ राजलोक मे रहे हुए) ग्रहण कर, भोगकर रखदे·· ········इसमें जितना समय लगे

★ 'ओसप्पिणी अणंता पोग्गल परियट्ठओ मुणेयव्वो।
तेऽणाता तीयद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥'

❀ 'पोग्गलपरियट्ठो इह दव्वाइचउव्विहो मुणेयव्वो।'
—प्रवचन सारोद्धार

(८) सूक्ष्म भाव पुदगल परावर्त

★ क्रमश सब अनुभाग बध के अध्यवसाय स्थानो को जितने समय मे मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाना है, उस काल विशेष को सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावत कहते हैं।

जो कि ऊपर के बादर पुद्गल परावत कही भी सिद्धात मे उपयोगी नही है परन्तु बादर समझाने से सूक्ष्म का ज्ञान सरलता से हो सकता है, इसलिए बादर का वर्णन किया गया है। ग्रन्थो मे जहाँ जहाँ 'पुद्गल परावत' आता है। वहा अधिकतर "सूक्ष्म-क्षेत्र-पुद्गल परावत" समझना चाहिए।

७ कारणवाद

कारण के बिना काय नही होता है, जितने कार्य दिखते हैं उनके कारण होते ही है। ज्ञानियो ने विश्व मे ऐसे पाच कारण खोजे हैं जो ससार के किसी भी कार्य के पीछे होते ही हैं।

(१) काल

(२) स्वभाव

(३) भवितव्यता

★ अनुभागबध स्थान का वर्णन 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ मे इस प्रकार है

तिष्ठति अस्मिन् जीव इति स्थान, एकेन कापायिकेण ध्यवसायेन गृहीताना कर्मपुद्गलानां विवक्षितैकसमयग्रहरम-समुदाय परिमाणम्।

अनुभाग बन्ध स्थानाना निष्पादका ये कपायोदय रूपा अध्यवसाय विशेषा तेऽप्यनुभागबन्ध स्थानानि।

को मृत्यु से स्पर्श करता है और इस तरह समस्त लोकाकाश को मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाता है तव सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल-परावर्त काल कहा जाता है।

परन्तु मान लो कि जीव के पहले आकाश प्रदेश में मरने के वाद तीसरे या चौथे आकाश प्रदेश मे मृत्यु हो जाती है तो उसकी गणना नही होगी। अगर पहले के वाद दूसरे आकाश प्रदेश मे मृत्यु हो तव ही गणना हो सकती है।

(५) वादर काल पुद्गल परावर्त :

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का जितना समय (परम सूक्ष्म काल विभाग) है, उस समय को एक जीव स्वय की मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पर्श करे तव वादर काल पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

(६) सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त :

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समयों को एक जीव अपनी मृत्यु से क्रम से स्पर्श करे उसे सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त कहते है। जैसे कि अवसर्पिणी के प्रथम समय में किसी जीव की मृत्यु हुई उसके वाद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी वीत गई और वापिस अवसर्पिणी के दूसरे समय में मृत्यु प्राप्त की हो तो वह दूसरे समय के मृत्यु स्पर्श गिना जावेगा।

(७) वादर भाव पुद्गलपरावर्त

असख्य लोकाकाश प्रदेशों के जितने अनुभाग वध के अध्यवसाय स्थान है, उन अध्यवसाय स्थानों को एक जीव मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पर्श करने में जितना समय लगाता है उस काल को वादर भावपुद्गल परावर्त कहते है।

जिन्हें स्वप्न मे भी आशा न हो वह वस्तु उन्हे मिल जाती है ऐसा क्यो ? एक मनुष्य युद्ध से जीवित आता है और घर मे मर जाता है ऐसा क्यो ? इन सब कार्यो मे मुख्य भाग भवितव्यता का है।

कर्म

जीव चार गति मे परिभ्रमण करता है। यह कर्म के कारण से ही है। राम को वनवास मे रहना पडा और सती सीता पर कलक लगा ये कर्म के कारण ही हुआ। भगवान महावीर के कानो मे कीलें ठोकी गई ऐसा सब कर्म के कारण ही हुवा, भूखा चूहा टोकरी को देखकर काटता है उसमे घुसता है अन्दर बैठा हुआ भूखा साप उस चूहे को निगल जाता है यह कर्म के कारण ही। इन सब कार्यो का मुख्य कारण कर्म है।

पुरुषार्थ

राम ने पुरुषार्थ से लका विजय की तिल से तैल कैसे निकलता है ? लता मकान पर कैसे चढ जाती है ? पुरुषार्थ से। कहावत है कि, 'बूद बून्द सरोवर भर जाता है ' पुरुषार्थ के बिना विद्या, ज्ञान, धन वैभव प्राप्त नही होता है।

यहा एक बात महत्वपूर्ण है, इन पाच कारणो मे से कोई एक कारण कार्य को पैदा नही कर सकता है। हा, एक कारण मुख्य होता है और दूसरे चार गौण होते हैं। उपाध्याय श्री विनय विजयजी ने कहा है "ये पाचो समुदाय मिले बिना कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता है।"

उदाहरणार्थ—तन्तुओ से कपडा बनता है, यह स्वभाव है। कालक्रम से तन्तु बनते हैं। भवितव्यता हो तो कपडा तैयार

(४) कर्म

(५) पुरुषार्थ

कोई भी कार्य इन पांच कारणो के बिना नही होता है। अब अपन एक एक कारण को देखते है।

काल :

विश्व में ऐसे भी कई कार्य दिखते है जिसमें काल (समय) ही कार्य करता हुआ दिखता है परन्तु वहाँ काल को मुख्य कारण समझना चाहिए और शेष ४ कारणों को गौण समझना चाहिए।

(१) स्त्री गर्भवती होती है अमुक समय में ही वच्चे को जन्म देती है। (२) दूध से अमुक समय में ही दही जमता है। (३) तीर्थंकर भी अपना आयुष्य वढा नही सकते हैं और निश्चित समय मे उनकी भी मृत्यु होती है (४) छः ऋतु अपने अपने समय से आती और वदलती हैं। इन सव में काल प्रमुख कारण है।

स्वभाव :

स्त्री के मूछ क्यों नही आती है ? यह स्वभाव है। हथेली मे वाल क्यों नही उगते ? नीम के वृक्ष पर आम क्यो नही आते ? मोर के पंख ऐसे रंग विरंगे और कला युक्त क्यों होते है ? वेर के कांटे ऐसे अणीदार क्यों होते है। फल फूलों के ऐसे विविध रंग क्यों ? पर्वत स्थिर और वायु चचल क्यों ? इन सव प्रश्नो का समाधान एक ही शव्द है : स्वभाव।

भवितव्यता :

आम के पेड़ पर फूल आते है और कितने ही झड़ जाते है..........कई आम मीठे और कई खट्टे..........ऐसा क्यों ?

हो जाता है नहीं तो विघ्न आते हैं और काम अधूरा रह जाता है। कातने वाले का पुरुषार्थ और भोगने वाले का कर्म चाहिए।

इसी तरह जीव के विकास में पांचों कारण काम करते हैं।

भवितव्यता के योग से ही जीव निगोद से बाहर निकलता है। पुण्यकर्मके उदय से मनुष्य भव प्राप्त करता है। भवस्थिति (काल) परिपक्व होने से उनका वीर्य (पुरुषार्थ) उल्लसित होता है। और भव्य स्वभाव हो तो वह मोक्ष प्राप्त करता है। श्री विनय विजय जी उपाध्याय सज्झाय में कहते हैं :

"नियति वशे हलु करमी थई ने निगोद थकी निकलीयो,
पुण्ये मनुष्य भवादि पामी सदगुरु ने जई मलीयो;
भव स्थिति का परिपाक थयो तव पंडित वीर्य उल्लसीयो।
भव्य स्वभावे शिवगति पामी शिवपुर जइने वसीयो।

प्राणी ! समकित—मति मन आणो,
नय एकांत न ताणो रे.........

कोई एक कारण से ही कार्य होता है। ऐसे मानने वालो में से अलग अलग मत अलग अलग दर्शन पैदा होते हैं।

८. चौदह राजलोक

कोई कहता है, "यह मैदान ४० मीटर लम्बा है" कोई कहता है "वह घर ५० फुट ऊंचा है" अपन को तुरंत कल्पना हो जाती है। क्योंकि 'मीटर' फुट आदि नापो से अपन परिचित हैं। "राजलोक" यह भी एक नाप है। सब से नीचे 'तमः

ऊर्द्ध्वलोक :

ऊर्द्ध्वलोक में वैमानिक देव और सिद्ध आत्मायें रहती है।

बारह देव लोक :

(१) सौधर्म
(२) ईशान
(३) सनत् कुमार
(४) माहेन्द्र
(५) ब्रह्मलोक
(६) लान्तक
(७) महाशुक्र
(८) सहस्रार
(९) आनत
(१०) प्राणत
(११) आरण
(१२) अच्युत

बारह देव लोक पूरे होने के बाद उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक देवलोक हैं। उनके ऊपर अनुत्तर देव लोक है।

पांच अनुत्तर-देवलोक :

(१) विजय
(२) विजयत
(३) जयंत
(४) अपराजित
(५) सर्वार्थसिद्ध

अशक्ति, बीमारी, अज्ञानता आदि कारण से दूसरो को (जो दीक्षा पर्याय मे अपने से छोटे हो उनसे) कहे "मेरा यह काम करोगे ? "

इसी तरह सेवा भाव से कर्म निर्जरा के हेतु से दूसरो का काम स्वय को करना हो तो भी पूछे "आपका यह काम मैं कर सकता हूँ ?"

(२) **मिथ्याकार** साधु जीवन के व्रत नियम पालन करने मे जाग्रत होते हुए भी अगर कोई गलती हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए "मिच्छामि दुक्कड' कहना चाहिए। उदाहरण के लिए, छीक आई और वस्त्र मुँह के आगे नही रहा फिर बाद मे ध्यान आने पर तुरन्त "मिच्छामि दुक्कड" कहना चाहिए। परन्तु जान बूझ कर जो दोप करना है और बार बार करता है तो उन दोपो की शुद्धि 'मिच्छामि दुक्कड' से नही होगी।

(३) **तथाकार** स्वय के स्वीकार किये हुए सुगुरू का वचन कोई विकल्प बिना "तहत्ति ' कह कर स्वीकार कर लेना चाहिए।

(४) **आवश्यकी** (आवस्सही) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए मकान के बाहर निकलते ही "आवस्सही" बोलकर निकलना चाहिए। आवश्यक काय के लिए बाहर जाना उसे आवश्यकी कहते हैं।

(५) **नैषेधिकी** (निस्सीही) आवश्यक काय पूर्ण करके साधु मकान मे आवे तब प्रवेश करते ही 'निस्सीही' बोलकर प्रवेश करे।

(६) **आपृच्छा** कोई काम करना हो तो गुरुदेव को पूछे। "भगवन् ! यह काम मै करू ? "

(१) क्षान्ति : क्षमा धर्म का पालन करना।
(२) मार्दव : मद का त्याग कर नम्र बनना।
(३) आर्जव : माया का त्याग कर सरल बनना।
(४) मुक्ति · निर्लोभता।
(५) तप : इच्छाओं का निरोध।
(६) सयम . इन्द्रियों का निग्रह।
(७) सत्य . सत्य का पालन करना।
(८) शौच पवित्रता। व्रत में दोष नही लगने देना।
(९) आकिंचन्य : बाह्य-आभ्यतर परिग्रह का त्याग।
(१०) ब्रह्म : ब्रह्मचर्य का पालन

इन दस प्रकार के धर्म की आराधना मे साधुता है। साधु जीवन के ये दस विध धर्म प्राण है। इनका वर्णन "नव-तत्व प्रकरण" 'प्रवचन सारोद्धार' 'वृहत्कल्प सूत्र' इत्यादि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

१०. सामाचारी

साधु जीवन के परस्पर व्यवहार की आचार संहिता ★'दश विध सामाचारी नाम से प्रसिद्ध है।

(१) इच्छाकार : साधु को अपना काम दूसरो से कराना हो तो अगर दूसरे की इच्छा होतो कराना चाहिए, जबरदस्ती से नहीं। इसी तरह दूसरों का काम करने की इच्छा हो तो भी उन्हे पूछ कर करना चाहिए। जो कि निष्प्रयोजन तो दूसरों से अपना काम तो कराना ही नहीं चाहिए। परन्तु

★ सेव्य. क्षान्तिर्मार्दवमार्जव शौचे च संयमत्यागौ।
सत्यतपो ब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्म विधिः॥
—प्रशम रतिः

लिए इन दोषो से वचना पडता है। ४० दोषो को टालने के लिए इन दोषो का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ इन दोषो के नाम और उनकी सक्षेप जानकारी दी गई है। विम्तृत ज्ञान के जिज्ञासुओ को 'प्रवचन सारोद्धार' ' ओघनियु क्ति' 'पिंड-निर्यु क्ति' आदि ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए।

(१) आधाकर्म साधु के लिए वनाया हुआ अन्न पानी।

(२) औदेशिक विचरण करते हुए साधु सन्यासियो के लिए वनाया हुआ।

(३) पूति कर्म आधा कर्म से मिश्र।

(४) मिश्रजात ज्यादा वनावे।

(५) स्थापना अलग निकाल कर रक्खे।

(६) प्राभृतिक लग्न आदि प्रसगों मे साधु निमित्त देर या पहले करे, इसी तरह सुबह या शाम को साधु निमित्त क्रमश देर से और जल्दी भोजन बनावे।

(७) प्रादुष्करण खिडकी खोले, वत्ती करे।

(८) क्रीत साधु के लिए खरीद कर लावे।

(९) प्रामित्य साधु के लिए उधार लावे।

(१०) परावर्तित अदल बदल करे।

(११) अभ्याहृत साधु के स्थान के सामने लाकर देना।

(१२) उद्भिन्न सील तोडकर या ढक्कन खोलकर दे।

(१३) मालापहृत छीके मे रक्खा हुआ उतार कर दे।

(१४) आच्छेद्य पुत्र आदि की इच्छा न हो तो भी उनके पास से लेकर दे।

(१५) अनुत्सृष्ट अनुमति बिना (पति पत्नी की, पत्नी पति की।)

(७) प्रतिपृच्छा : पहले किसी काम के लिए गुरुदेव ने मना कर दिया हो परन्तु वर्तमान में वह काम उपस्थित हो गया हो तो गुरुमहाराज को पूछे कि . भगवन् ! पहले आप ने यह काम करने के लिए मना किया था परन्तु अब इसका तो प्रयोजन है, अगर आपकी आज्ञा हो तो मै यह कार्य करू ?" गुरु महाराज जैसा कहे वैसा करे।

'प्रतिपृच्छा' का दूसरा अर्थ यह है कि किसी काम के लिए गुरुमहाज ने अनुमति दे दी हो तो भी वह कार्य करने से पहले पुन : गुरुमहाराज को पूछना चाहिए।

(८) छंदणा ' साधु गोचरी लाकर सहवर्ती साधुओ को कहे, "मैं गोचरी (भिक्षा) लेकर आया हूँ, जिन्हें जो उपयुक्त हो वे इच्छानुसार ग्रहण करें।"

(९) निमंत्रण : गोचरी जाने के समय सहवर्ती साधुओं को पूछे (निमत्रण दे) कि "मैं आपके लिए योग्य गोचरी लाऊँगा।"

(१०) उपसंपत्त . विशिष्टज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए एक गुरुकुल से दूसरे गुरुकुल मे जाना।

इन दस प्रकार के व्यवहार को सामाचारी कहते है। साधु-जीवन मे इस व्यवहार का पालन मुख्य कर्तव्य है।

११. गोचरी के ४२ दोष

साधु जीवन का निर्वाह भिक्षावृत्ति पर होता है। साधु-साध्वी गृहस्थों के घर से भिक्षा लाते है। परन्तु इन गोचरी के सतर्कता के नियम है। इन नियमों का अनुसरण करके भिक्षा लानी चाहिए। अगर इन नियमों का पालन न करे तो साधु को दोष लगता है, उसका उन्हें प्रायश्चित करना पड़ता है। महाव्रतों को सुरक्षित रखने के

(३६) दायक नीचे लिखे लोगो से भिक्षा लेने से यह दोष लगता है।

(१) वेडी से जकडा हुआ (२) जूते पहने हुए। (३) बुखारवाला (४) बालक (५) कुबडा (६) वृद्ध (७) अंधा (८) नपुसक (९) उन्मत्त (१०) लगडा (११) खाडने वाला (१२) पीसने वाला (१३) धुनकने वाला (१४) कातने वाला (१५) दही बिलोने वाला (१६) गर्भवती स्त्री (१७) दूध पीते बच्चे की मा। (१८) मालिक की अनुपस्थिति मे नोकर

(३७) उन्मिश्र सचित्त अचित्त मिला कर देवे वह लेना।

(३८) अपरिणत पूर्ण अचित्त न हुआ हो वह लेना अथवा दो साधु मे एक को निर्दोष लगे और दूसरे को सदोष लगे वह लेना।

(३९) लिप्त शहद, दही से लिपा हुआ लेना।

(४०) छर्दित भूमि पर गिरा हुआ लेना।

(४१) निक्षिप्त सचित्त के साथ सघट्टा वाला लेना।

(४२) सहृत एक वर्तन को दूसरे वर्तन मे खाली करके, खाली वर्तन से वोहराना।

साधु साध्वी को इन ४२ दोषों की जानकारी होनी ही चाहिए तभी वे भिक्षा लाने के योग्य बन सकते हैं।

१२ ४ निक्षेप

किसी भी शब्द या अर्थ निरूपण करना हो तो वह 'निक्षेप' पूर्वक किया जाये तो स्पष्ट रूप से समझ मे आ सकता है 'निक्षेपण निक्षेप' निरूपण करने को निक्षेप कहते हैं। यह निक्षेप जघन्य से चार प्रकार का है और उत्कृष्ट अनेक प्रकार का है। यहां हम चार प्रकार के निक्षेप का विवेचन करेंगे।

(१६) अध्यपूरक : भोजन पकाने की शुरुआत अपने लिए करे फिर इसमें साधु के लिए और बढ़ा देवे ।

(१७) धात्रीदोष : साधु धाय मा का काम करे ।

(१८) दूतिदोष : संदेश ले जाना और लाना ।

(१९) निमित्त कर्म : ज्योतिष शास्त्र से निमित्त कहे ।

(२०) आजीवक पिंड : अपने आचार्य का कुल बताना ।

(२१) वनीयक पिंड : ब्राह्मण अतिथि, भिखारी के समान बन कर भिक्षा मांगे ।

(२२) चिकित्सा पिंड : दवा बताये या करे ।

(२३) क्रोध पिंड : क्रोध से भिक्षा मांगे ।

(२४) मान पिंड : अभिमान से भिक्षा लावे ।

(२५) माया पिंड : नये नये वेश करके लावे ।

(२६) लोभ पिंड : कोई खास वस्तु लाने की इच्छा करे ।

(२७) सस्तवदोष : माता, पिता, और ससुराल का परिचय देवे ।

(२८) विद्या पिंड : विद्या से भिक्षा लावे ।

(२९) मंत्र पिंड : मंत्र से भिक्षा लावे ।

(३०) चूर्ण पिंड : चूर्ण से भिक्षा लावे ।

(३१) योग पिंड : योग शक्ति से भिक्षा प्राप्त करे ।

(३२) मूल कर्म . गर्भपात करने के उपाय बतावे ।

(३३) शंकित : दोष की शंका होतो भी भिक्षा लेवे ।

(३४) भ्रक्षित : काम में लिया हुआ जूठा द्रव्य लेवे ।

(३५) पीहित : सचित्त या अचित्त से ढकी हुई वस्तु लेवे ।

★ भाव इन्द्र आदि के अर्थ रहित (परन्तु अर्थ के अभिप्राय से) साकार या निराकार जो किया जाता है उसे स्थापना कहते हैं।

★ भाव-इन्द्रादि के साथ समानता हो उसे साकार स्थापना कहते हैं।

★ भाव—इन्द्रादि के साथ असमानता हो उसे निरा कार स्थापना कहते हैं।

काष्ठ पत्थर, हाथीदांत की मूर्तियां, प्रतिमायें आदि को साकार स्थापना कहते हैं। ये दो तरह की होती हैं। (१) शाश्वत (२) अशाश्वत। देवलोक आदि में शाश्वत जिन प्रतिमा होती ह जबकि दूसरी प्रतिमायें शाश्वत नहीं भी होती हैं।

★ शंख आदि मे जो स्थापना की जावे उसे अनाकार स्थापना कहते हैं।

शाश्वत जिन प्रतिमाओं में 'स्थापना' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्थाप्यत इति स्थापना' चरितार्थ नहीं होती है। क्योंकि वे शाश्वत हैं। शाश्वत को कोई स्थापित नहीं कर सकता है। इसलिए वहा 'अर्हदादिरूपेण तिष्ठतीति' स्थापना 'अरिहत आदि रूप से रहते हैं वह स्थापना' ऐसा व्युत्पति अर्थ करना चाहिए।

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप मे इस तरह बहुत अंतर है। परमात्मा की स्थापना (मूर्ति) देवो की स्थापना, गुरवरो की स्थापना के दर्शन—पूजन से इच्छित लाभो की प्राप्ति प्रत्यक्ष दिखती है। इसके अलावा प्रतिमा के दर्शन मे विशिष्ट कोटि के भाव भी जाग्रत होते हैं।

(१) नाम ।
(२) स्थापना ।
(३) द्रव्य ।
(४) भाव ।

नाम निक्षेप :

★यद् वस्तुनोऽभिधान स्थित मन्यार्थे तदर्थ निरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेय च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥

(१) यथार्थ में एक नाम सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध होता है और वही नाम दूसरे लोग भी रखते है । उदाहरणार्थ इन्द्र यह नाम देवों के अधिपति की तरह प्रसिद्ध है और यह नाम ग्वाले के लड़के का भी रख देते है ।

(२) 'इन्द्र' शब्द का जो 'परमऐश्वर्यवान्' अर्थ है वह ग्वाले के लड़के के लिए प्रयुक्त नहीं होगा ।

(३) 'इन्द्र' शब्द के जो पर्याय 'शक्र' 'पुरन्दर' शचिपति' आदि है वे पर्याय ग्वाले के पुत्र इन्द्र के लिये प्रयुक्त नहीं होंगे ।

'यादृच्छिक' प्रकार में ऐसे नाम आते हैं कि जिनका व्युत्पत्तिअर्थ नहीं होता है अथवा जो स्वेच्छा से नाम दिये जाते हैं ।

ये नाम जीव और अजीव के हो सकते है ।

स्थापना निक्षेप :

❀ यत्तु तदर्थ वियुक्त तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि ।
लेप्यादि कर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च ॥

★अनुयोग द्वार—सूत्र

❀ अनुयोग—सूत्र

द्रव्य निक्षेप की विस्तृत चर्चा के लिए 'अनुयोग द्वार सूत्र' का अध्ययन करना आवश्यक है।"

भाव-निक्षेप

तीर्थङ्कर भगवन्त को लेकर जहा भाव-निक्षेप का विचार किया गया है वहा कहा है "समवसरणत्था भाव जिणिदा" समवसरण में बैठे हुए धर्म देशना देते हुए तीर्थङ्कर भगवन्त भाव तीर्थङ्कर है।

"श्री अनुयोग द्वार सूत्र" मे कहा है वक्तृ विवक्षित परिणामस्य भवन भाव । वक्ता के कहे हुए परिणाम जाग्रत होने को भाव कहते हैं।

भाव से प्रतिक्रमण आदि क्रियायें दो प्रकार होती हैं (१) आगम मे (२) नो आगम मे।

★ प्रतिक्रमण के सूत्र के अर्थ के उपयोग को भाव प्रतिक्रमण कहते है। इसी तरह जो क्रिया की जाती है उस क्रिया के अर्थ के उपयोग हो ता वह क्रिया भाव क्रिया कही जाती है।

★ नो आगम की भाव क्रिया तीन प्रकार है (१) लौकिक (२) कुप्रावचनिक (३) लोकोत्तर

(१) लौकिक लौकिक शास्त्रो के श्रवण मे उपयोग।

(२) कुप्रावचनिक होम जप योगादि क्रियाओं मे उपयोग।

(३) लोकोत्तरिक तच्चित आदि आठ विशेषताओं से युक्त धर्मक्रिया (प्रतिक्रमण आदि)

साराश यह है कि प्रस्तुत क्रिया छोड़कर दूसरी तरफ मन-वचन-काया का उपयोग नहीं करके जो क्रिया की जाती है उसे भाव क्रिया कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप :

★ "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके ।
तद्द्रव्यं तत्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥"

जो चेतन-अचेतन द्रव्य भूतकाल भाव का कारण हो या भविष्य काल के भाव का कारण हो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं ।

उदाहरणार्थ भूतकाल मे वकील हो या डाक्टर परन्तु वर्तमान मे वकालात न करते हो या दवाई नही करते हो तो भी जनता उन्हे वकील या डाक्टर कहती है । यह द्रव्य निक्षेप के वकील या डाक्टर कहे जाते है । इसी तरह अभी तक वकालात पढ रहे हो या मेडिकल कालेज मे पढ रहे हों तो भी लोग उन्हें वकील या डाक्टर कहते है क्योकि वे भविष्य में वकील या डाक्टर होने वाले है । इसी तरह भूलकालीन पर्याय का जो कारण वर्तमान मे हो उसे द्रव्य-निक्षेप कहते है ।

द्रव्य निक्षेप की दूसरी परिभाषा इस तरह की जाती है "अणुवओगो दव्व" अनुपयोग अर्थात् भाव शून्यता वोध-शून्यता·· ·····उपयोग शून्यता । जिस क्रिया मे भाव, वोध, उपयोग न हो उस क्रिया को द्रव्य क्रिया कहते है ।

लोकोत्तर द्रव्य-आवश्यक की चर्चा करने हुए अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है जो श्रमण गुण रहित और जिनाज्ञा रहित वन कर स्वच्छदता से विचरण कर, उभयकाल प्रतिक्रमण के लिए खड़ा हो उस साधु वेषधारी का प्रतिक्रमण वह लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक है ।"

★ अनुयोग द्वार-सूत्र

१४ ब्रह्म-अध्ययन

'नियाग-अष्टक मे कहा है

ब्रह्माध्ययन निष्ठावान् परब्रह्म समाहित ।
ब्राह्मणो लिप्यते नाघै नियागप्रतिपत्तिमान् ॥

इस श्लोक के विवेचन मे 'ब्रह्म-अध्ययन' मे निष्ठा, श्रद्धा, आस्था रखने के लिए कहा है ।

श्री आचारांग सूत्र का प्रथम भाग यही ब्रह्म अध्ययन है । जो कि यह श्रुतस्कध है परन्तु श्री यशोविजय जी महाराज ने अध्ययन की तरह निर्देश किया है । इस प्रथम श्रुतस्कघ के नौ अध्ययन थे परन्तु इनका 'महापरिज्ञा' नामक सातवा अध्ययन करीब हजार वर्षों से लुप्त है ।

'सत्थ परिण्णा लोग विजओ य सीओसणिज्ज सम्मत ।
तह लोगसारनाम धुय तह महापरिण्णाय ॥
अट्ठएम य विमोक्खो उवहाणसुय च नवमग भणिया
—आचाराग-नियुक्ति ३१-३२

(१) शस्त्र परिज्ञा
(२) लोक विजय
(३) शीतोष्णीय
(४) सम्यक्त्व
(५) लोकसार
(६) धूताध्ययन
(७). महा परिज्ञा
(८) विमोक्ष
(६) उपधानश्रुत

श्री शीलाकाचार्यजी कहते हैं "ये नौ अध्ययन सयमी आत्मा को मूल गुण और उत्तर गुणो मे स्थिर करते है इसलिए कर्म निर्जरा के लिए इन अध्ययनो का परिशीलन करना चाहिए।"

१३. चार अनुयोग

★ राग, द्वेष और मोह से अभिभूत संसारी जीव शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखों से पीड़ित है। इन समस्त दुःखों को दूर करने के लिए हेय और उपादेय पदार्थ के परिज्ञान में यत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न विशिष्ट विवेक के विना नही हो सकता है। विशिष्ट विवेक अनन्त अतिशय युक्त आप्त पुरुष के उपदेश विना नही हो सकता है। राग, द्वेष और मोह आदि दोषो को सर्वथा क्षय करने वाले को 'आप्त' कहते हैं। ऐसे आप्त पुरुष 'अरिहत' ही हैं।

अरिहंत भगवंत का उपदेश ही राग-द्वेष के बन्ध को तोड़ने में समर्थ है। इसलिए इस अर्हद् वचन की व्याख्या करनी चाहिए। पूर्वाचार्यों ने चार अनुयोगो में अर्हद्वचन को विभाजित किया है।

(१) धर्मकथा—अनुयोग
(२) गणित—अनुयोग
(३) द्रव्य— अनुयोग
(४) चरण-करण—अनुयोग

अनुयोग अर्थात् व्याख्या। धर्म कथाओं का वर्णन श्री उत्तराध्ययन आदि में है। गणित का विषय सूर्यप्रज्ञप्ति आदि में वर्णित है। द्रव्यों की चर्चा-विचार चौदह पूर्व में और सन्मति-तर्क आदि ग्रन्थों मे है। चरण करण का विवेचन आचारांग सूत्र आदि में किया गया है।

इस तरह वर्तमान में उपलब्ध ४५ आगमों को इन चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है।

★ आचारांग सूत्र टीका। श्री शिलांकाचार्यजी।

अग	उपांग	मूल सूत्र	छेद सूत्र	प्रकीर्णक	चूलिका सूत्र
आचार*	औपपातिक	आवश्यक	निशीथ	देवेन्द्र स्तव	नन्दी
सूत्रकृत्	राज प्रश्नीय	उत्तराध्ययन	दशाश्रुत	तदुन वचारिय	अनुयोग
स्थान	जीवाभिगम	दश वैकालिक	बृहत्कल्प	गणि विद्या	द्वार
समवाय	प्रज्ञापना	ओघ नियु क्ति	व्यवहार	आतुर प्रत्याख्यान	
व्याख्या प्रज्ञप्ति	सूयप्रज्ञप्ति		जीतकल्प	महा प्रत्याख्यान	
ज्ञाता धम कथा	चद्र प्रज्ञप्ति		महानिशीथ	गच्छाचार	
उपासक दशा	जबू द्वीप प्रज्ञप्ति			भक्त परिना	
अतत् दशा	निरयावलिका			मरण समाधि	
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतसिका			सस्तारक	
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिता			चतु शरण	
विपाक श्रुत	पुष्प चुलिका				
	वृष्णि दशा				

* आगम साहित्य की विशेष जानकारी के लिए देखिये 'आहत आगमोनु अवलोकन" और पैंतालीस आगम" (लेखक प्रो० हीरालाल र० कापडिया)

१५. ४५ आगम

आज से २५०० वर्ष पहले श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वज्ञता प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उन्होंने ग्यारह विद्वान् ब्राह्मणों को दीक्षा देकर उन्हें 'गणधर' की पदवी दी। भगवंत ने ११ गणधरों को "त्रिपदी" दी। "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा।" इस त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने "द्वादशांगी" (बारह शास्त्रों) की रचना की।

पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ने जो द्वादशांगी की रचना की, उनमें से बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है। जो ग्यारह अंग रहे हैं उनमें से भी बहुत सा भाग नष्ट हो गया है तो भी जो रहा है उनको आधार मानकर कालांतर में अन्य आगमों की रचना की गई है।

इस तरह पिछले सैंकड़ों वर्षों से '४५ आगम' प्रसिद्ध हैं उन आगमों के ६ विभाग हैं।

११ अंग
१२ उपांग
४ मूल सूत्र
६ छेद सूत्र
१० प्रकीर्णक
२ चूलिका सूत्र

इन ४५ आगमों पर जो विवरण लिखे गये हैं वे चार प्रकार के हैं—(१) निर्युक्ति (२) भाष्य (३) चूर्णी (४) टीका। ये विवरण संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

महाराज साहब का वरद् हस्त इस सस्था पर है इसीसे सस्था अवाध गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

सस्था के पास जगह की अत्यधिक कमी है—साहित्य को सुव्यवस्थित रखना भी मुश्किल हो रहा है। इस ओर भी सस्था के सहयोगियो एव शुभेच्छुओ को ध्यान करना ही है।

प्रारम्भ से ही सस्था को श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ सघ, जयपुर का हार्दिक सहयोग मिल रहा है उसके लिये प्रकाशन आभारी है।

सस्था ने अपने कार्य के साथ ही कुछ दूसरे काम भी हाथ मे ले रखे हैं। दिव्यदर्शन प्रकाशन की ३ पुस्तको के प्रकाशन मे भी अपना पूर्ण सहयोग दिया है। इसी प्रकाशन की चौथी पुस्तक 'आवश्यक सूत्र चित्रावली जिसके प्रकाशन मे करीब १५ हजार रुपया खर्च होगा, के कार्य मे इस सस्था का पूरा योगदान है। इन पुस्तको के वितरण मे भी सस्था सक्रिय है।

पूज्य विशाल विजयजी म० सा० द्वारा लिखित 'सुदर्शना चरित्रम्' सस्कृत ग्रन्थ का प्रकाशन भी विश्व कल्याण प्रकाशन के सहयोग मे हो रहा है। इस पुस्तक का प्रकाशन जल्दी ही श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ देरासर की पेढी दौलत नगर, बम्बई की ओर से हो रहा है।

सस्था आपसे हर तरह के सहयोग की इच्छुक है सस्थायें ५०१) रु० भेजकर आजीवन सदस्य व साहित्य प्रेमी १०१) रु० भेजकर सरक्षक व ३१) रु० भेजकर पचवर्षीय सदस्य जल्दी से जल्दी बने यही विनती है।

हीराचन्द बैद
पारसमल कटारिया
मानद् मत्री

श्री विश्व कल्याण प्रकाशन, जयपुर

वार्षिक कार्य-विवरण

भादवा सुद १ सं० २०२५ को जयपुर नगर में चातुर्मासार्थ विराजित युवक मुनि महान् प्रवचनकार श्री भद्रगुप्त विजयजी महाराज सा० की प्रेरणा से सरल सुवोध एव ज्ञान वर्धक साहित्य के प्रकाशन हेतु इस सस्था का जन्म हुआ। तीन वर्ष के इस अल्प शिशु सस्थान ने जो कार्य सम्पन्न किया वह स्वत: ही इस सस्था के कार्य व परिचय के लिये काफी है।

तीन वर्ष में योजनानुसार १२ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है अब तक ३०) रु० कीमत की १२ पुस्तके सदस्यो के पास पहुच चुकी है अभी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ९ पुस्तके और प्रकाशित होनी हैं जिनकी कीमत भी करीव २०) रु० वनेगी। इस तरह इस योजना के अन्तर्गत ३१) रु० वाले सदस्य को ५१) रु० कीमत का साहित्य पांच वर्ष में प्राप्त हो सकेगा।

इस संस्था के अव तक ४०० के करीव सदस्य वन चुके हैं है इनमें हिन्दी भाषी प्रदेश के वाहर के भी सदस्य काफी संख्या में है। इन तीन वर्षों में प्रकाशन के अन्तर्गत २७ हजार पुस्तकें छप चुकी है। सदस्यता एवं पुस्तक विक्री के करीव २४ हजार रुपये प्राप्त हुये है जबकि प्रकाशन व सामान खरीद मे करीव २२ हजार रुपया खर्च भी हो चुका है।

प्रकाशन का साहित्य ग्रीष्म शिविरों (शीक्षा सत्र) में पाठ्य पुस्तकों के तौर पर भी चल रहा है। पूज्य भद्रगुप्त विजय जी म० की लेखनी से लिखा यह साहित्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। उत्तम छपाई, आकर्षक टाइटल एवं सुरुचि पूर्ण साहित्य के कारण हिन्दी साहित्य के प्रकाशन में इस सस्था ने थोड़े समय में ही अपना अच्छा स्थान बना लिया है। पूज्य

१७६)५२ श्री ब्याज खाते जमा
२४)६५ गत वर्ष तक
१५१)८७ इस वर्ष के

१७६)५२

८२७)५१ श्री अमानत खाते जमा
११२)७१ गत वर्ष का
७१४)८० सुदर्शना चरित्र पेटे मारफत
पूज्य विशाल विजयजी
महाराज साहेब

८२७)६१

२५१०८)३८

२२२२)८३ श्री बैंक ऑफ बडौदा के
सेविंग खाते मे लेने

१८६) श्री उगाही खाते नामे
मारफत उदयपुर शाखा के
गत वर्ष तक

९३१) श्री उचत खाते नामे
बारहवीं पुस्तक ज्ञानसार द्वि० भाग
की छपाई बाइंडिंग पेटे दिये हुये।
८००) अन्य १३१)

२५०७४)६२

३३)७६ श्री पोते बाकी

२५१०८)३८

श्री विश्व कल्याण प्रकाशन,
जयपुर

हीराचन्द बैद
पारसमल कटारिया
मानद् मंत्री

आय–व्यय परिशिष्ट (विश्व कल्याण प्रकाशन)

(भादवा सुद १ सं० २०२५ से भादवा बद ऽऽ सं० २०२८ तक)

(सं० २०२७ के भानवा बद ऽऽ को प्रकाशित आंकड़े सहित)

१९७३८) श्री विश्व कल्याण प्रकाशन सदस्यता शुल्क खाते जमा
१७४५४) गत वर्ष तक
२२८४) इस वर्ष के
______
१९७३८)

४२३३.२५ श्री पुस्तक एवं चित्र विक्री खाते जमा
३७७२) गत वर्ष तक
४६१)२५ इस वर्ष के
______
४२३३)२५

१३३)१० श्री सहायता खाते जमा
७६)१० गत यर्प के
५७) इस वर्ष के
______
१३३)१०

२०५२०)२९ श्री पुस्तक प्रकाशन खाते नामे (पचवर्षीय योजना की ११ पुस्तके एव अन्य ४ पुस्तकों एवं कर्म विज्ञान चित्र की छपाई, बाइडिंग, ब्लाक, कागज, डाक व्यय, स्टेशनरी आदि में)
१४५७२)८८ गत वप तक
५९४७)४१ इस वर्ष में
______
२०५२०)२९

११२८)५० श्री सामान खरीद खाते
गत वर्ष तक

८६) श्री खर्च खाते नामे
६०) गत वर्ष तक
२६) इस वर्ष मे
______
८६)

न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय यशोविजयजी को शत सहस्र वदन हो । जिन्होंने इस "ज्ञानसार" ग्रंथ की रचना कर भव्य जीवो को मोक्ष मार्ग बताया । मोक्षमार्ग के प्रकाशक ऐसे महर्षि को पुन पुन वदन करते है ।

हे आत्मन् ! अनन्तकाल से अज्ञान दशा मे तूने कितने पाप किये ? अब तू ज्ञान नयन खोल ससार का स्वरूप देख । कितना दु खमय यह ससार है ? क्यों ऐसे ससार मे फस कर आत्मा को काला करता है ? मोक्ष मार्ग पर चल । मोक्ष मे ही शाश्वत सुख प्राप्त होगा ।

६, शा जे० कपूरचद जी	दावणगीरी
१० श्री पारस मल जो सर्राफ	विलाडा
११ श्री तेजराजजी भसाली	पिपाड
१२ श्री भेरूसिंह जो मेहता	विलाडा
१३ श्री कटारीया प्रोडक्टस	जयपुर
१४ श्री वुधसिंह जी हिराचद जी वैद	जयपुर
१५ श्री सरुपचद जो वोथरा	मद्रास
१६ श्री सोहनराज जो रुपाजी	वोम्वे ६
१७ श्री महावीर ट्रेडिंग कम्पनी	मैसूर
१८ श्री कालूरामजी मोडीलालजी मारवाडी	उदयपुर
१६ श्री रोशनलालजी वोल्या	उदयपुर
२० श्री दिवानसिंहजो वोतलालजी वाफना	उदयपुर
२१ श्री गणपतसिंह जी कोठारी	उदयपुर
२२ श्री हरनाथ सिंह जी मेहता	उदयपुर
२३ श्री ख्यालीलाल जी सुन्दरलाल जी	उदयपुर

पूज्य मुनिराज श्री जयकुजर विजयजी महाराज साहेव के सदुपदेश से—

मानद सदस्य

२४ श्री मेघजी जोवराज शाह ज्ञान वाग कोलोनी	हैदरावाद
२५ श्री भवुतमल जी भवरलाल एन्ड क०	फीरोजावाद
२६ श्री हीराचद जी पुनमचद जी छल्लाणी	सीकद्रावाद
२७ श्री केसरीचद जी चोरडोया परिवार	हैदरावाद
२८ श्री हस्तीमल जी चम्पालाल जी भडारी	हैदरावाद
२६ श्री समरथमल जी कल्याणमल जी श्रोस्तवाल	हैदरावाद
३० श्री केशरीमल जी मागीलाल जी भडारी	हैदरावाद

सदस्य सूची

आजीवन सदस्य

१. श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ	जयपुर
२. श्री संपतराम जी लूंकड	शोलापुर
३. श्री भेरुबाग जैन संघ	जोधपुर
४. श्री शान्तिलाल जी वाफना	जयपुर
५. श्री पुनमचन्दजी हरीश्चन्द जी वडेर	जयपुर
६. श्री गुप्त एक सदस्य गृहस्थ	जयपुर
७. श्री शा फोजमलजी कपुरचंद जी	दावणगीरी
८. श्री ए माणकचद जी वेताला	मद्रास
९. श्री पार्श्वनाथ जैन पेढी	रोहीडा
१०. श्री विजयसिह जी सिघवी	उदयपुर
११. श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सघ	उदयपुर

मानद सदस्य

१. श्री गोड़ीदास जी ढढ्ढा	जयपुर
२ श्री केशरी सिह जी उमरावमल जी पालेचा	जयपुर
३. श्री गुजराती बहिन C/o मनसुखभाई, लीलावरजी	जयपुर
४. श्री एम० मिलाप चंद जी	मद्रास
५. श्री चांद सिह जी फतेहसिह जी कर्नावट	जयपुर
६. श्री आचार्य चद्र कांती सागर जी	अलवर
७ शा धर्माजी लखमाजी	दावणगीरी
८. शा० पुनमचंद जी चम्पकलाल जी	दावणगीरी

३१. श्री गेनमल जी जावंत राज जी पीरगल	सिकन्द्राबाद
३२. श्री केवलचद जी नाहर के परिवार	सिवनूर
३३. श्री जैन मूर्तिपूजक संघ	रायचुर
३४. श्री राणमल जी गोतमचंद जी	कुरनूल
३५. श्री वूपचंद जी गेवरचंद जी	कुरनूल
३६. अनराज जी सम्पतराज जी सोनी	सिकंद्राबाद
३७. पन्नालाल जी जुगराजजी वांठिया	सिकद्राबाद
३८. शाह शान्तिलाल लूम्बाजी कोठारी	गदग